वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५० वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक ११ नवम्बर २०१३
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ११

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,५००

पुरखों की थाती

तावद्-जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्-रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे ।।३२५।।

– व्यक्ति, अन्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बावजूद जब तक स्वादेन्द्रिय या जिह्वा को नहीं जीत लेता, तब तक उसे जितन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। जिह्वा पर विजय पा लेने से सब पर सहज ही विजय मिल जाती है।

तावन्महतां महतीं यावत् किमपि न याच्यते लोकम् ।
बलिमनुयाचन-समये श्रीपतिरपि वामनो जातः।।३२६

– महान् लोगों की महत्ता तभी तक बनी रहती है, जब तक कि वे किसी के सामने हाथ नहीं फैलाते। भगवान विष्णु को भी माँगते समय बलि के समक्ष बौना बन जाना पड़ा था।

तावन्माम्-अर्चयेद्-देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ।।३२७।।

– मनुष्य को तब तक अपने कर्मों द्वारा मूर्ति आदि के द्वारा ईश्वर की अर्चना करनी चाहिये, जब तक कि उसे सभी प्राणियों तथा अपनी आत्मा में भी मेरी (ईश्वर की) विद्यमानता का बोध न होने लगे।

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ।।३२८।।

– जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध छिपा रहता है, उसी प्रकार वह आत्मा भी मनुष्य शरीर के बाहर तथा भीतर अदृश्य भाव से ओतप्रोत रहता है।

त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिर्पक्षैः त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पाप-पुण्यैरिहैव फलमश्नुते ।।३२९।।

– तीव्र पाप या पुण्य का फल व्यक्ति को तीन वर्ष, तीन महीने, तीन पक्ष या तीन दिन में ही भोगने को मिलता है।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत् तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ।।३३०।।

– हे राजन् ! संसार में तीन तरह के मनुष्य हैं – उत्तम, मध्यम व अधम। इन तीनों तरह के लोगों को उत्तम, मध्यम व अधम – तीन प्रकार के कामों में नियुक्त करना चाहिए।

तीर्थे-तीर्थे परिभ्रम्य मूढाः काम्यन्ति मुक्तये ।
आत्मैव परमं तीर्थं यत्र मुक्तिमयो हरिः ।।३३१।

– अज्ञानी लोग ही विभिन्न तीर्थों में घूम-घूमकर मुक्ति की कामना करते हैं, क्योंकि वे नहीं जानते कि अपनी आत्मा अर्थात् हृदय ही वह परम तीर्थ है, जिसमें मुक्ति-स्वरूप परमात्मा निवास करते हैं।

तीक्ष्णधारेण खड्गेन वरं जिह्वा द्विधा कृता ।
न तु मानं परित्यज्य देहि-देहीति भाषितम् ।।३३२।।

– बल्कि तलवार की तीक्ष्ण धार से अपनी जिह्वा के दो टुकड़े कर लेना अच्छा है, परन्तु अपने स्वाभिमान को त्यागकर किसी के सामने हाथ फैलाना उचित नहीं।

तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति ।।३३३।।

– तिनके से भी हल्की रूई होती है, परन्तु याचक उससे भी हल्का होता है। तो फिर उसे वायु क्यों नहीं उड़ा ले जाती ! इस आशंका से कि मुझसे भी कुछ न माँग बैठे।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ।।३३४।।

– तिनके से भी अधिक विनम्र और वृक्ष से भी अधिक सहन-शील होकर, अपने अहं को त्यागकर दूसरों को सम्मान देते हुए सर्वदा हरि का कीर्तन करना चाहिए। ❖ **(क्रमशः)** ❖

चार कुण्डलियाँ

(कुछ प्रसिद्ध कहावतों तथा दोहों पर रचित)

– १ –

नाम-रतन की लूट है, लूटो प्रभु का नाम।
पछताओगे अन्यथा, जब निकलेंगे प्राण।।
जब निकलेंगे प्राण, पुनः जग में आओगे।
लोभ-मोह के चक्कर में, फिर दुःख पाओगे।।
कह 'विदेह' यह बात सुनो, है बड़े जतन की।
जब तक घट में प्राण, शरण लो नाम-रतन की।

– २ –

रहिमन चुप हो बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आयेंगे, बनत न लगिहैं देर।।
बनत न लगिहैं देर, धैर्य से करो प्रतीक्षा।
जीवन में दुःख-सुख - दोनों देते हैं शिक्षा।।
कह 'विदेह' सब ईश्वर का ही खेल देखिये।
साक्षी बनकर रहिये, चुप हो शान्त बैठिये।।

– ३ –

जो मरने से जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द।।*
पूरन परमानन्द, वही मेरा स्वरूप है।
जग में छाया, मिथ्या नाना नाम-रूप है।।
पा 'विदेह' चिर मुक्ति, प्राण अन्तर भरै।
माया से हो भ्रमित, मृत्यु से जग डरै।।

– ४ –

राम-झरोखा बैठकर, सबका मुजरा लेहि।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसा देहि।।
ताको तैसा देहि, कर्म का फल मिलता है।
पुण्य-पाप का तदनुसार सुख-दुख फलता है।।
कह 'विदेह' मत देना अपने मन को धोखा।
कर्म करो पर स्मरण रहे, वह राम-झरोखा।।

---

* सन्त कबीर

मैं भारत वापस लौटा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

बेलूड़ मठ, २ मार्च १८९८ : जब मैं लन्दन से लौटा तो यहाँ दक्षिण भारत में लोग आयोजनों तथा भोजों में व्यस्त थे और जितना सम्भव था, उतना काम मुझसे निचोड़ रहे थे, तभी मेरी एक पुरानी आनुवंशिक बीमारी उभरी। उसकी प्रकृति तो सदा से रही थी, पर मानसिक कार्य की अति ने उसे 'अभिव्यक्ति' का मौका दे दिया। उसका परिणाम हुआ शक्ति का पूर्ण ह्रास तथा अति अवसाद; और मुझे मद्रास से तत्काल अपेक्षाकृत ठण्डे उत्तर भारत के लिए प्रस्थान करना पड़ा। एक दिन के भी विलम्ब का अर्थ था, उस भीषण गर्मी में दूसरे स्टीमर के लिए हफ्ते भर प्रतीक्षा करना। हाँ, तो मुझे बाद में पता चला कि दूसरे दिन श्री बरोज मद्रास पहुँचे एवं अपेक्षानुसार मुझे वहाँ न पाकर बड़े खिन्न हुए। मैंने वहाँ उनके स्वागत और आवास का प्रबन्ध कर दिया था। उन बेचारे को क्या पता कि उस समय मैं यमलोक के द्वार पर था।

पिछली गरमी भर मैं हिमालय में भ्रमण करता रहा। मैंने अनुभव किया कि ठण्डी जलवायु में तो मैं स्वस्थ रहता हूँ; परन्तु ज्योंही मैदानी इलाकों की गर्मी में आता हूँ, पुन: बीमार पड़ जाता हूँ। आज से कलकत्ते में गर्मी तीव्र होती जा रही है और शीघ्र ही मुझे भागना पड़ेगा, इस बार ठण्डे अमेरिका की ओर, क्योंकि श्रीमती बुल तथा मिस मैक्लाउड इस समय यहीं (भारत में) हैं। संस्था के लिए कलकत्ते के पास गंगा-तट पर मैंने थोड़ी-सी जमीन खरीद ली है। उसमें एक छोटा-सा मकान है, जिसमें इस समय ये लोग रह रहे हैं; पास ही वह भवन है, जिसमें अभी मठ है और हम लोग रहते हैं।

अत: मैं उनसे रोज ही मिल लेता हूँ और वे भारत में खूब आनन्द प्राप्त कर रही हैं। एक महीने के बाद वे काश्मीर का भ्रमण करना चाहती हैं; और यदि उनकी इच्छा हुई तो पथ-प्रदर्शक, मित्र एवं शायद एक दार्शनिक के रूप में उनके साथ जा सकता हूँ। उसके पश्चात् हम लोग समुद्र-मार्ग से मिथ्या-लांछन तथा स्वतंत्रता के देश के लिए प्रस्थान करेंगे।

मेरे कारण तुम्हें उद्विग्न होने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यदि बुरा ही होना है, तो मुझे उड़ा ले जाने में बीमारी को दो-तीन साल और लग जायँगे। अन्यथा वह एक निर्दोष साथी के रूप में बनी रहेगी। मैं सन्तुष्ट हूँ। कार्य को सुव्यवस्थित करने हेतु मैं कठोर परिश्रम कर रहा हूँ, ताकि रंगमंच से मेरे चले जाने के बाद भी मशीन चलती रहे। मृत्यु पर तो मैं बहुत पहले ही – जब मैंने जीवन का उत्सर्ग किया था, तभी – विजय प्राप्त कर चुका हूँ। मेरी चिन्ता का विषय केवल काम है और उसे भी प्रभु को समर्पित कर दिया है, उन्हें ही सब कुछ पता है।[४९]

दार्जिलिंग, २३ अप्रैल १८९८ : सन्दक फू (११,९२४ फीट) आदि स्थानों से लौटने के बाद मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, किन्तु पुन: दार्जिलिंग आते ही मुझे ज्वर हो गया था। अब ज्वर तो नहीं है, पर सर्दी से पीड़ित हूँ। प्रतिदिन ही चले जाने का प्रयत्न करता हूँ, पर टालमटोल करके इन लोगों ने देर कर दी। अस्तु, कल रविवार को यहाँ से रवाना होकर मार्ग में खर्सान में एक दिन रुककर सोमवार को कलकत्ता चल दूँगा।[५०]

दार्जिलिंग, २९ अप्रैल १८९८ : मैं कई बार ज्वराक्रान्त हुआ – अन्त में इन्फ्लुएंजा से पीड़ित होना पड़ा था। अब कोई शिकायत नहीं है; किन्तु अत्यन्त दुर्बल हो गया हूँ। भ्रमण लायक शक्ति आते ही मैं कलकत्ता रवाना होऊँगा। ...

अँधेरी रात में जब अग्निदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव तथा नक्षत्र-समूह निद्रित हो जाते हैं, उस समय तुम्हारे हृदय को कौन आलोकित करता है? मैंने तो यह आविष्कार किया है कि भूख ही मेरे चैतन्य को जाग्रत रखती है ! अहा, 'आलोक का ऐक्य' विषयक मतवाद कितना अपूर्व है ! सोचो तो सही, इस मतवाद के अभाव में संसार युगों तक कितने अन्धकार में रहा होगा ! जो कुछ ज्ञान, प्रेम तथा कर्म था और बुद्ध, कृष्ण, ईसा आदि जो भी आये थे, सब कुछ व्यर्थ ही था। उनके जीवन तथा कार्य एकदम निरर्थक हैं; क्योंकि रात में जब सूर्य एवं चन्द्र अन्धकार में डूब जाते हैं, तब कौन हृदय को आलोकित करता रहता है,

इस तत्त्व का आविष्कार उनसे न हो सका ! कितनी मनमोहक चर्चा है – क्यों ठीक है न?

मैंने जिस शहर में जन्म लिया है, वहाँ पर यदि 'प्लेग' का प्रादुर्भाव हो, तो उसके प्रतिकार के लिए मैंने आत्मोत्सर्ग करना निश्चित कर लिया है। आज तक जितने भी महापुरुष आविर्भूत हुए हैं, उनके लिये आहुति देने की अपेक्षा निर्वाण-प्राप्ति का मेरा यह बेहतर उपाय है ![५१]

अल्मोड़ा, २० मई १८९८ : मेरे नैनीताल पहुँचने पर किसी का कहना न मानते हुए घोड़े पर सवार होकर बाबूराम यहाँ से नैनीताल पहुँचा और वहाँ से लौटने के दिन भी हमारे साथ घोड़े पर सवार होकर ही लौटा है। डण्डी पर चढ़कर आने के कारण मैं पीछे रह गया था। रात में जब मैं डाकबँगले पहुँचा, तब पता लगा कि बाबूराम पुन: गिर गया था और उसके हाथ में चोट लगी है – हड्डी नहीं टूटी है। मेरी डाँट के भय से वह देशी डाकबँगले में ठहरा है; क्योंकि उसके गिर जाने के कारण कुमारी मैक्लाउड उसे अपनी डण्डी देकर वह स्वयं घोड़े पर सवार होकर लौटी है। उस रात्रि में उससे मेरी भेंट नहीं हुई। दूसरे दिन जब मैं डण्डी की व्यवस्था कर रहा था, तब पता लगा कि वह पैदल ही चला गया है। तब से उसका और कोई समाचार नहीं मिला है। दो-एक जगह 'तार' दे चुका हूँ, पर कोई समाचार नहीं मिला है। सम्भवत: किसी गाँव में ... ठहरा होगा। अच्छी बात है। किसी की चिन्ता बढ़ाने में ये लोग कुशल हैं। ...

मेरा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा काफी अच्छा है, किन्तु डिस्पेप्सिया (बदहज्मी) अभी दूर नहीं हुई है और नींद न आने की शिकायत भी आ गयी है। यदि तुम डिस्पेप्सिया की कोई लाभकारी आयुर्वेदिक दवा भेज सको, तो अच्छा हो।...

इस बार अल्मोड़ा की जलवायु बड़ी अच्छी है। साथ ही सेवियर ने जो बँगला लिया है, अल्मोड़ा में उसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दूसरी ओर चक्रवर्ती के साथ ऐनी बेसेंट एक छोटे-से बँगले में है। ... मैं एक दिन मिलने गया था। ऐनी बेसेंट ने मुझसे अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा कि उनकी संस्था के साथ हमारी संस्था की दुनिया भर में प्रीति बनी रहनी चाहिए। बेसेंट आज चाय पीने के लिए यहीं आनेवाली हैं। हमारे साथ की महिलाएँ पास ही एक दूसरे छोटे बँगले में हैं और वे बड़ी प्रसन्न हैं। केवल आज कुमारी मैक्लाउड थोड़ी अस्वस्थ हैं। हैरी सेवियर दिनो-दिन साधु बनते जा रहे हैं।[५२]

अल्मोड़ा, जून १८९८ : गुडविन के इहलोक से चिरविदा होने का समाचार पाकर मुझे बड़ा शोक हुआ, अधिक शोक इस कारण भी हुआ कि यह घटना इतनी सहसा हुई कि मेरे लिये उसकी मृत्यु के समय उसके पास उपस्थित रहने की कोई सम्भावना ही नहीं थी। मेरे ऊपर उसका जो ऋण है, उसे कभी चुकाया नहीं जा सकेगा; और जिन लोगों को भी मेरे किसी विचार से सहायता मिली है, उन्हें यह जानना चाहिये कि उसका प्राय: प्रत्येक शब्द गुडविन के अथक तथा परम नि:स्वार्थ परिश्रम के कारण ही सम्भव हो सका है। उसके चले जाने से, मैं – एक इस्पात के समान मित्र को, एक अटल भक्तिमान शिष्य को और एक ऐसे कर्मी को खो चुका हूँ, जो जानता ही न था कि थकान क्या है ! ऐसे लोग जो केवल दूसरों के लिये ही जीने को जन्मे हैं, उनमें से एक के अस्तित्व से पृथ्वी वंचित हो गयी है।[५३]

श्रीनगर, १७ जुलाई १८९८ : मेरा स्वास्थ्य ठीक है। रात में प्राय: उठना नहीं पड़ता, सुबह-शाम भात, आलू, चीनी – जो भी मिलता है, खा लेता हूँ। दवा बेकार है – ब्रह्मज्ञानी के शरीर पर दवा का कोई असर नहीं होता ![५४]

अमरनाथ, २ अगस्त १८९८: मुझे खूब आनन्द मिला ! ऐसा लगा मानो हिमलिंग साक्षात् शिव ही हैं। वहाँ कोई लोभी पुरोहित, किसी भी तरह का व्यवसाय या कुछ भी गलत नहीं था। वहाँ केवल एक अविच्छिन्न पूजा का ही भाव था। अन्य किसी भी तीर्थ में मुझे इतना आनन्द नहीं मिला।[५५]

श्रीनगर, १० अगस्त १८९८ : मैं अमरनाथजी का दर्शन करने गया था। यात्रा अत्यन्त आनन्ददायी रही और दर्शन अभूतपूर्व था। मैं यहाँ लगभग एक महीना और रहूँगा, उसके बाद नीचे उतर आऊँगा।[५६]

काश्मीर, २५ अगस्त १८९८ : गत दो महीनों से मैं आलसी की तरह दिन बिता रहा हूँ। भगवान की दुनिया में जिसे उज्ज्वल सौन्दर्य की पराकाष्ठा मानी जाती है, उसके अन्दर होकर प्रकृति के इस नैसर्गिक उद्यान में – जहाँ पृथ्वी, वायु, भूमि, तृण, गुल्मराजि, वृक्षश्रेणी, पर्वतमालाएँ, बर्फराशि और नरदेह के कम-से-कम बाहरी हिस्सों में दैवी सौन्दर्य का विकास हो रहा है – उसी के अन्दर मनोहर झेलम के वक्षस्थल पर नाव में तैर रहा हूँ। वही मेरा मकान है; और मैं प्राय: काम से मुक्त हूँ – यहाँ तक कि लिखना-पढ़ना भी नहीं जैसा है; जब जैसा मिल रहा है, उसी से उदरपूर्ति की जा रही है – मानो रिप-वान-विंकल के साँचे में ढला हुआ जीवन है !...

कार्य के बोझ से अपने को समाप्त न कर डालना। उससे कोई लाभ होने का नहीं; सदा यह ख्याल रखना कि 'कर्तव्य मानो मध्याह्नकालीन सूर्य है – उसकी तीव्र किरणों से जीवनीशक्ति क्षीण हो जाती है।' साधना की ओर से उसका मूल्य अवश्य है – उससे अधिक अग्रसर होने पर वह एक दु:स्वप्न मात्र है। चाहे हम जागतिक कार्यों में हाथ बटावें अथवा नहीं, जगत् तो अपनी चाल से चलता ही रहेगा। मोहान्धकार में केवल हम अपने को चकनाचूर कर डालते हैं। एक प्रकार की भ्रान्त धारणा नि:स्वार्थ भाव का मुखौटा लगाकर उपस्थित

होती है; किन्तु सब प्रकार के अन्याय के सम्मुख नतमस्तक होकर अन्त में वह दूसरों का अनिष्ट ही करती है। अपने नि:स्वार्थ भाव से दूसरों को स्वार्थी बनाने का हमें कोई अधिकार नहीं – क्या हमें ऐसा अधिकार है?[५७]

श्रीनगर, २८ अगस्त १८९८ : कुछ दिन मैं बाहर रहा। अब मैं महिलाओं का साथ देने जा रहा हूँ। अब हमारी पार्टी, पहाड़ी के पीछे स्थित, कल-कल ध्वनि करती एक सोते से युक्त जंगल के एक शान्तिपूर्ण स्थान में बुद्ध की भाँति पद्मासन लगाकर देवदारु तरुओं के नीचे गम्भीर और दीर्घ ध्यानाभ्यास करने जायगी।[५८]

काश्मीर, ६ अक्तूबर १८९८ : अब और 'हरि ॐ' नहीं, अब केवल 'माँ-माँ' ! मेरा स्वदेश-प्रेम बह गया है। सब कुछ चला गया है। अब है तो केवल 'माँ, माँ'। मुझसे बड़ी गलती हुई है। माँ ने मुझे बताया, "भले ही म्लेच्छों ने मेरे मन्दिर में प्रवेश किया और मेरी प्रतिमा को अपवित्र किया, उससे तुम्हें क्या? तू मेरी रक्षा करता है या मैं तेरी रक्षा करती हूँ?" अतएव अब मेरा स्वदेश-प्रेम जा चुका है। अब मैं एक छोटा सा शिशु मात्र हूँ ![५९*]

काश्मीर, १२ अक्तूबर १८९८ : यह सब सत्य है, अक्षरश: सत्य है –

साहसी, जो चाहता है दु:ख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है माँ उसी के पास आती।

माँ सचमुच ही उसके पास आती हैं। मैंने अपने जीवन में इसे प्रत्यक्ष किया है, क्योंकि मैंने साक्षात् मृत्यु का आलिंगन किया है।[६०]

लाहौर, अक्तूबर १८९८ : मेरे जीवन के केवल तीन वर्ष ही बचे हैं और मुझे यही विचार कष्ट देता है कि क्या मैं अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सकूँगा?[६१]

बेलूड़ मठ, २० अक्तूबर १८९८ : जब से अमरनाथ जी का दर्शन किया है, तब से चौबीसों घण्टे मानो शिवजी मेरे मस्तक में समाये रहते हैं; किसी प्रकार भी नहीं हटते। ... अमरनाथ में और फिर क्षीरभवानी के मन्दिर में मैंने बहुत तपस्या की थी।... अमरनाथ जाते समय पहाड़ की एक खड़ी चढ़ाई पार कर गया था। उस पगडण्डी से केवल पहाड़ी लोग ही चढ़ते-उतरते हैं, कोई यात्री उधर से नहीं जाता; परन्तु इसी मार्ग से होकर जाने की मुझे जिद-सी हो गयी थी। उस परिश्रम से शरीर कुछ दुर्बल पड़ गया। वहाँ ऐसा कड़ा जाड़ा पड़ता है कि शरीर में सुई-सी चुभती है। ...

मैंने भी कौपीन मात्र धारण कर और भस्म लगाकर गुफा में प्रवेश किया था। तब ठण्डक या गरमी कुछ नहीं मालूम हुई, परन्तु मन्दिर से निकलते ही शरीर ठण्ड से अकड़ गया था। वहाँ तीन-चार सफेद कबूतरों को देखा था। वे उसी गुफा में रहते हैं या आसपास के किसी पहाड़ में, ठीक अनुमान नहीं कर सका।... सुना है कि कबूतर देखने से जिसके मन में जो कामना रहती है, वही सिद्ध होती है।

(क्षीरभवानी में) उस देववाणी को सुनने के समय से मन में और कोई संकल्प नहीं रखता। मठ-वठ बनाने का संकल्प छोड़ दिया है। माँ की जो इच्छा, वही होगा। ...

भीतर हो या बाहर, इससे क्या? यदि तुम अपने कानों से मेरे समान ऐसी अशरीरी वाणी को सुनो, तो क्या उसे मिथ्या कह सकते हो? देववाणी सचमुच सुनायी देती है, हम लोग जैसे वार्तालाप कर रहे हैं न, ठीक वैसे ही।[६२]

बेलूड़ मठ, २५ अक्तूबर १८९८ : मेरा स्वास्थ्य फिर काफी बिगड़ गया है। इसीलिये मुझे काश्मीर से जल्दी कलकत्ते लौटना पड़ा। डॉक्टरों की राय है कि इन सर्दियों में मुझे फिर यात्रा करना ठीक नहीं रहेगा। इससे बढ़कर निराशा की बात और क्या हो सकती है ! तो भी इस ग्रीष्मकाल में मैं अमेरिका आ रहा हूँ। श्रीमती बुल तथा मिस मैक्लाउड ने इस वर्ष की काश्मीर-यात्रा का खूब आनन्द लिया।...

मेरा स्वास्थ्य दिन-ब-दिन सुधर रहा है। कुछ महीनों बाद ही मैं अमेरिका की यात्रा कर सकूँगा। खैर, 'माँ' ही जानती हैं कि हमारे लिये क्या अच्छा है। वे ही राह दिखायेंगी। आजकल मैं भक्ति के भाव में हूँ। ज्यों-ज्यों मेरी आयु बढ़ रही है, ज्ञान के स्थान पर भक्ति अधिकार करती जा रही है।[६३]

❖ (क्रमशः) ❖

* एक दिन क्षीरभवानी में विधर्मी आक्रान्ताओं द्वारा उस मन्दिर के अत्याचारजनित ध्वंशावशेष देखकर तथा प्रतिमा की दुर्दशा के बारे में सोचकर स्वामीजी के मन में खेद होने लगा और उन्होंने सोचा, "कैसे लोगों ने ऐसा अत्याचार चुपचाप सह लिया? प्रतिकार की जरा भी चेष्टा नहीं की ! यदि मैं रहता, तो कदापि ऐसा नहीं होने देता; प्राण देकर भी माँ की रक्षा करता।" तभी उन्हें माँ की वाणी सुनाई दी थी।

सन्दर्भ-सूची –

४९. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ६, पृ. ३९७; **५०.** वही, खण्ड ६, पृ. ४००; **५१.** वही, खण्ड ६, पृ. ४०१; **५२.** वही, खण्ड ६, पृ. ४०२-०३; **५३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १०६-७; **५४.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ४०७; **५५.** Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ३८८; **५६.** वही, खण्ड ९, पृ. १०७; **५७.** वही, खण्ड ६, पृ. ४०९; **५८.** वही, खण्ड ६, पृ. ४१०; **५९.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 2, P. 39; **६०.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. ११२-३; **६१.** Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, पृ. १८; **६२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ९१-३; **६३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १०८

देशभक्ति की सीढ़ियाँ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

देशभक्ति का अर्थ वैसे तो स्पष्ट है, पर उसकी मूल भावना को जीवन में उतारने के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के विचार इतने सटीक और प्रेरक हैं कि वे देशभक्ति के यथार्थ मर्म को उद्घाटित करके रख देते हैं। वे कहते हैं, "लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ, और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहला है हृदय – अनुभव की शक्ति। बुद्धि या विचारशक्ति में क्या धरा है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय? – हृदय तो महाशक्ति का द्वार है; अन्तःस्फूर्ति वहीं से आती है। प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है।" इतना कहकर वे सम्बोधित करते हुए कहते हैं, "अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको ! मेरे भावी देशभक्तो ! तुम हृदयवान बनो।... क्या तुम अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इस भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर द्रवित हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो तुम अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुधि बिसर गये हो? क्या सचमुच तुम ऐसे हो गये हो? तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – हाँ, केवल पहली सीढ़ी पर !"

स्वामी विवेकानन्द देशभक्ति का पहला सोपान बताकर दूसरे सोपान की चर्चा करते हुए कहते हैं, "अच्छा, माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य पथ निश्चित किया है? क्या लोगों को गाली न देकर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है?... क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सान्त्वनादायक शब्दों को खोजा है? – यही दूसरी बात है।"

पर विवेकानन्द यहीं पर नहीं रुकते। वे देशभक्ति की तीसरी कसौटी बताते हुए कहते हैं, "पर केवल इतने से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाये, तो भी क्या जिसे तुम सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्यलक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, नाम-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? ... क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? – बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है। तब फिर तुम्हें समाचार-पत्रों में छपवाने की अथवा व्याख्यान देते हुए फिरते रहने की आवश्यकता न होगी, स्वयं तुम्हारा मुख ही दर्पण हो जाएगा।"

स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित देशभक्ति के ये तीन सोपान हमारे लिए मननीय हैं। अपनी देशभक्ति को कसौटी पर कसने हेतु ये हमारे लिए निकष का काम करते हैं। ये हमारे नेत्रों को खोलने के लिए अंजनस्वरूप हैं तथा आज के स्वार्थान्धकार आच्छन्न परिवेश में दीपस्तम्भ के समान हैं।

आत्म-विश्वास का महत्त्व

विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास, ईश्वर में विश्वास – यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुराणों के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि स्वयं में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती। अपने आप में विश्वास करो, उस पर दृढ़ रहो और शक्तिशाली बनो।... जो स्वयं में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। प्राचीन धर्मों ने कहा है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता। ***– स्वामी विवेकानन्द***

रामराज्य की भूमिका (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

भगवान श्री राघवेन्द्र की महती अनुकम्पा से इस वर्ष पुन: स्वामी विवेकानन्दजी के जयन्ती के पावन प्रसंग में आप लोगों के समक्ष भगवत्कथा कहने का सौभाग्य मिला। वस्तुत: रामकथा कह करके मुझे सर्वत्र ही सन्तोष की अनुभूति होती है, क्योंकि रामकथा मेरे लिए श्वास-प्रश्वास की भाँति है। पर जब मैं रायपुर के इस पवित्र आश्रम में आता हूँ, तो मेरे आनन्द में कई गुनी वृद्धि होती है। श्रद्धेय स्वामीजी आत्मानन्दजी महाराज के निर्देशन में इस आश्रम के माध्यम से जो महानतम कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, भगवान श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्दजी के जीवन और सन्देश के आधार पर अन्तरंग और बहिरंग जीवन की पूर्णता के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, उन सब से आप भलीभाँति परिचित हैं। स्वाभाविक रूप से इस पवित्र परिवेश में आकर के अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। बहुधा जब मैं कलकत्ते जाता हूँ, तो वहाँ बिरला दम्पत्ति जब स्वामीजी का स्मरण करते हैं, तो उनकी सरलता और साधुता की चर्चा करते हुए यह कहना नहीं भूलते कि आदरणीय स्वामीजी जब भी कलकत्ते में प्रवचन देते हैं, तो वे कई प्रसंगों में आपका स्मरण करते हैं। वस्तुत: यह साधुता का ही परिचायक है। साधारणतया जो विचार भगवान मेरे माध्यम से प्रगट करते हैं, उनका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो रहा है, इसे देखकर मुझे सन्तोष की अनुभूति होती है। यह मैं आवश्यक नहीं मानता कि इस सन्दर्भ में मेरे नाम का स्मरण अवश्य किया जाय, पर महापुरुषों की यह महानता होती है कि वे इस विषय में अपनी सौजन्यता और सरलता से इस परम्परा का स्मरण करते हुए दिखाई देते हैं। स्वाभाविक रूप से मैंने इस सन्दर्भ में यह चर्चा इसलिए की कि यहाँ मुझे जो स्नेह दिया जाता है, उससे बहिरंग दृष्टि से और अन्तरंग दृष्टि से भी मुझे जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उससे बढ़कर और किसी वस्तु को मैं नहीं मानता। ऐसी स्थिति में यहाँ का आमंत्रण स्वीकार करना मेरे लिए स्वाभाविक ही हो जाता है। बहुत व्यस्तताओं के बीच भी यहाँ आने की बाध्यता मुझे प्रेरित करती है। मैं आप सबके प्रति और श्रद्धेय स्वामीजी के प्रति कृतज्ञ हूँ कि वे इस अवसर पर हमेशा मेरा स्मरण करते हैं।

कथा के प्रारम्भ में मैं कहता हूँ कि वक्ता तो एक यंत्रमात्र है। मेरे लिए यह कोई सैद्धान्तिक भाषण नहीं होता है, कहीं से याद किये हुए वाक्य नहीं होते, यह मेरे जीवन की यथार्थ अनुभूति है। इस अनुभूति को जितने निकट से मैं देख पाता हूँ, सम्भवत: आपके समक्ष उस रूप में न आती हो। सम्भवत: आपको लगता हो कि शायद मैं दिन भर सायंकाल के प्रवचन के लिए तैयारी करता होऊँगा, अध्ययन करता होऊँगा, पर ऐसी कोई बात नहीं है। सचमुच एक यंत्र जैसे प्रयत्न नहीं करता, ठीक वैसे ही मेरे जीवन में ऐसा कई प्रयत्न-पुरुषार्थ नहीं है। कभी-कभी तो मैं अनुभव करता हूँ कि दिन में यदि सायंकालीन प्रवचन का स्मरण हो आये और यदि उस समय मैं यह सोचूँ कि आज मैं इस विषय पर प्रवचन करूँगा, तो बहुधा मंच पर आकर वह सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। प्रभु मानो मुझे निरन्तर स्मरण कराते रहे हैं कि इसमें किसी प्रयत्न और पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं है। प्रभु ने यदि मुझे माध्यम बनाकर रामायण के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है, तो वह प्रभु की अनुकम्पा है, मेरे किसी प्रयत्न और पुरुषार्थ का फल नहीं है। मैं आप सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कथा के सभी पक्षों में रुचि ली है, रस प्राप्त किया है। यहाँ आने की जो सुखद परम्परा प्रारम्भ हुई, उसके मूल में श्री प्रेमचन्द जैस का स्नेह था। उन्हीं के आग्रह से मैं पहली बार आया। तब श्रद्धेय स्वामीजी यहाँ नहीं थे, पर अगले ही वर्ष स्वामीजी महाराज ने मुझे स्मरण किया। स्नेह से प्रारम्भ की गई वह परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है। यहाँ जो महापुरुष हैं, संन्यासी हैं, जो अपने जीवन को पूरी तरह से समर्पित किए हुए हैं, मैं उनके प्रति सादर नमन करता हूँ।

पिछले आठ दिनों से रामराज्य को माध्यम बनाकर जो चर्चा प्रारम्भ की गई थी, आज समापन की दृष्टि से उस पर एक दृष्टि डालने की चेष्टा करें। समाज की सुव्यवस्था के लिये, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को सुव्यस्थित करने के लिए, समाज की समस्याओं का समाधान करने के लिए अनादि काल से अनेक तंत्रों का प्रयोग किया गया है। जितने वाद हैं, जितने तंत्र हैं, इतिहास में आप उसका वर्णन पढ़ते हैं। उनका परिचय आपको मिलता है। उन वादों का तात्पर्य

यह है कि व्यक्ति किसी-न-किसी तंत्र का आश्रय लेकर समाज को सुव्यस्थित करना चाहता है। पर प्रत्येक तंत्र में कुछ गुण होते हैं और कुछ दोष होते हैं। गुण के लोभ से व्यक्ति तंत्र या व्यवस्था को स्वीकार करता है। पर उस व्यवस्था में जब दोष का पक्ष सामने आता है, तब व्यक्ति उसे त्याग देता है और किसी नये वाद की खोज में वह लग जाता है। उस प्रकार संसार के अनगिनत देशों में विविध वादों और तंत्रों के माध्यम से समाज को व्यवस्था देने की चेष्टा की जा रही है, उसकी समस्याओं का समाधान देने की चेष्टा की जा रही है।

श्रीराम-चरित-मानस में भी एक ऐसे आदर्श तंत्र की बात कही गई और उसके विविध सन्दर्भों और विविध पक्षों पर दृष्टि डालें तो ऐसा लगता है कि विविध तंत्रों में जो गुण हैं, वे तो रामराज्य में हैं ही, परन्तु विविध वादों और तंत्रों में जो दोष हैं, जो कमियाँ हैं, उनका रामराज्य में अभाव है। इस दृष्टि से हमारे देश की संस्कृति में, हमारी पौराणिक परम्परा में आदर्श राज्य की जो सर्वश्रेष्ठ भावना प्रस्तुत की गई है, वह रामराज्य है, पर इसकी प्रक्रिया कोई बहुत सरल नहीं है।

व्यक्ति बड़ा उतावला रहता है और यह उतावलापन स्वाभाविक है। जब हमारे सिर में पीड़ा होती है, तो हम यही चाहते हैं कि कितनी जल्दी यह पीड़ा मिट जाय। उसके लिए हम दवा की खोज करते हैं। दवा लेकर हमारी पीड़ा मिट जाती है, तो हम सन्तुष्ट होते हैं। पर व्यक्ति यदि बुद्धिमान होगा, उसकी दृष्टि व्यापक होगी, तो वह उतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा, उसे यह स्पष्ट लगेगा कि लक्षण की चिकित्सा से तत्काल सन्तोष हो सकता है, पर जब तक उस रोग के मूल कारण का निदान न हो और जब तक उन्हें मिटाने की चेष्टा न की जाय, तब तक रोग की वास्तविक समस्या का हल नहीं होगा। भरतजी ने अयोध्या के नागरिकों के बीच में जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने इसी तथ्य की ओर इंगित किया था।

जब भरतजी से राज्य लेने का प्रस्ताव किया गया, तो उन्होंने कहा – मैं आपकी मन:स्थिति समझता हूँ, श्रीराम वन चले गये हैं, पिताजी की मृत्यु हो गई है और आपको लगता है कि राजा तथा शासन के अभाव में समाज उच्छृंखल हो जायगा, असुरक्षित हो जायेगा, इसीलिए आप उतावाले हो रहे हैं कि दूसरा राजा चुन लिया जाय और आप मुझसे राज-सिंहासन पर बैठने का अनुरोध कर रहे हैं, आदेश भी मिल रहा है। भरतजी ने सावधान करते हुए कहा – पर इतना उतावलापन उचित नहीं है। जैसा कि रोगों के सन्दर्भ में आप देखते हैं कि रोग को मिटाने के उतावलेपन में व्यक्ति कभी-कभी ऐसी भी दवाओं को ले लेता है, जो उनसे भी भयानक रोगों की सृष्टि करने वाली सिद्ध होती हैं। इसी सत्य की ओर भरतजी ने ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा – आप रोग का जो निदान कर रहे हैं, जो चिकित्सा सोच रहे हैं, उसमें धैर्य नहीं, उतावलापन है। साधारणतया परम्परा तो यह है कि शासन करने वाला व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन और दूसरों की कमियों की ओर संकेत करता है। यही परम्परा है और आज भी वैसा ही होता है। पर रामराज्य के सन्दर्भ में श्रीराम और भरतजी ने एक नई दृष्टि दी।

श्री राघवेन्द्र ने जब अयोध्या के राज्य का परित्याग किया और वन की ओर जाने लगे, तो अयोध्या की प्रजा विद्रोही हो उठी और उनके पीछे वन की ओर चल पड़ी। प्रजा का इतना बड़ा समर्थन मिल रहा था और श्रीराम उसे और भी उत्तेजित कर सकते थे। कह सकते थे कि यह बहुत बड़ा अन्याय हो रहा है। मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ, मैं ही राज्य का सच्चा अधिकारी हूँ, मुझसे अच्छा शासन कोई और नहीं चला सकता। यह कहकर वे बलपूर्वक सिंहासन पर बैठ सकते थे। पर भगवान श्रीराघवेन्द्र के मन में रामराज्य का मूल चिन्तन क्या है? इसका परिचय महर्षि वाल्मीकि और भगवान राम के संवाद में मिलता है।

प्रभु जब अयोध्या की प्रजा को रोक नहीं पाते, प्रजा उनके साथ चलती है और रात में प्रभु उन्हें सोते हुए छोड़कर चले जाते हैं, तो उसके पीछे उनकी क्या भावना थी! प्रभु चाहते थे कि अयोध्या की प्रजा लौट जाय और भरत के राज्य में रहे। ऐसा मानकर न चले कि मेरे राजा न होने से समाज अव्यस्थित हो जायगा। भगवान राम मानो प्रजा के मन में भरतजी के प्रति आस्था उत्पन्न करना चाहते थे।

उनके अपने मन में भरतजी के प्रति कितनी आस्था थी, इसका परिचय तब मिला, जब वे महर्षि वाल्मीकि के समक्ष अपनी वनयात्रा के गुण गिनाने लगे कि मुझे वन आने में कितने लाभ हुए। वन आने से मुझे पहला लाभ तो यह हुआ कि पिताजी के सत्य की रक्षा हुई –

तात बचन पुनि मातु हित ... ।। २/१२५

महत्त्व किसी व्यक्ति के राजा होने का नहीं, बल्कि सद्गुणों का है और हमारे पिताजी ने धर्म का सर्वश्रेष्ठ पक्ष – सत्य की रक्षा के लिए जब मेरा त्याग कर दिया, तो समाज के सामने यह आदर्श आया कि सत्य से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है और उसके लिए हमें प्रिय-से-प्रिय वस्तु का परित्याग कर देना चाहिए। समाज को यह कितना बड़ा सन्देश मिला!

उस समय यदि कोई प्रभु से तर्क करता कि ठीक है, पर यह तो मानना पड़ेगा कि कैकेयी ने अन्याय किया! प्रभु बोले – बिल्कुल नहीं! माँ कैकेयी ने बाल्यावस्था से लेकर अब तक मेरी ही ओर देखा और मुझसे पूछा – राम, तुम क्या चाहते हो? मैंने उनसे जो भी कहा, उन्होंने पूरा किया। इस प्रकार माँ से लेते-लेते मैं हृदय में संकोच का अनुभव करने लगा कि मैं तो केवल माँ से माँगता ही रहता हूँ, उनकी कोई

सेवा नहीं कर पाता। उन्हें कुछ दे नहीं पाता। पर जब मैंने सुना कि मेरी माँ ने यह कहा है कि राज्य भरत को दिया जाय और राम चौदह वर्ष के लिए वन में जाकर रहे, तो मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ कि माँ ने कृपा करके मेरा संकोच दूर किया, ऋण का बोझ कुछ हल्का किया। अत: मेरे वन-गमन से माँ का जो हित हुआ, यह तो और भी प्रसन्नता की बात है।

इस पर तर्क किया जा सकता था कि माता-पिता को तो तुमने सामने रखा, पर अयोध्या के असंख्य लोग तुम्हें राजा के रूप में देखना चाहते थे, उनकी आकांक्षाओं का तुमने तिरस्कार किया। तब श्रीराम ने जिस दृढ़ता और जिन शब्दों में भरत का स्मरण किया, वह शब्द-योजना पढ़ने योग्य है – महाराज, शासन चलाने की क्षमता भरत में मुझसे भी कहीं अधिक है, वह त्यागी भरत राज्य चलाएगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अयोध्या की प्रजा को कोई अयोग्य राजा नहीं मिला है। भले ही आज उतावलेपन में प्रजा मेरा अभाव बोध कर रही हो, पर जब वह भरत का राज्य देखेगी, तो मुझे भूल जायगी। अत: प्रजा के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ है। उसे मुझसे अधिक योग्य राजा मिला है।

भाइ भरत अस राउ ।। २/१२५

अन्त में भगवान ने बड़ी मीठी बात कही। किसी ने कहा – आप तो बड़े चतुर व्याख्याकार हैं, इस बुराई में भी इतने गुण गिना दिये। पिताजी का सत्य बचा, माँ का हित हुआ, प्रजा को भरत जैसा राजा मिला, पर आपको क्या मिला? दुख-संकट ही तो मिला! इस पर प्रभु ने बड़ी सुन्दर बात कह दी! उनके शब्द कितने मधुर हैं! बोले – महाराज, इस बँटवारे में मैं ही तो सर्वाधिक लाभ में रहा। माँ ने यदि वन में आने की आज्ञा न दी होती, तो आप जैसे महापुरुषों का दर्शन और सत्संग कैसे मिलता? उन्होंने यह भी कहा – मैं तो अनुभव करता हूँ कि मैंने पूर्वजन्म में कुछ पुण्य किए थे, इसीलिए ऐसा सुखद प्रसंग बना।

मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु
सबु मम पुन्य प्रभाउ ।। २/१२५

आज हममें से किसी के जीवन में यदि ऐसा अवसर आ जाय कि पद मिलते-मिलते न मिले और उसकी जगह दण्ड की व्यवस्था भी कर दी जाय; तो यदि क्षमता होगी तो विद्रोह करेगा और अक्षम होगा, तो पूर्वजन्म के कर्म को दोष देगा कि न जाने कौन-सा पाप किया था, जो इतने दुख भोगने पड़ रहे हैं। पर श्रीराम कहते हैं – यह सब मेरे पुण्य के प्रभाव से हुआ है। न जाने कितने पुण्य मैंने किये होंगे!

यह है श्रीराम की धारणा! वे चाहते हैं कि आयोध्या का राज्य भरत चलायें और वहाँ के नागरिक भरत की विशेषताओं को अनुभव करें। श्रीराम इसके लिए बड़ा सुनियोजित पद्धति का आश्रय लेते हैं – मार्ग में सोते हुए प्रजा को छोड़कर चले जाते हैं। प्रभु जब चलने लगे, तो सुमन्त जी रथ लेकर आए और बोले – पिताजी ने कहा है कि आपको रथ पर बैठकर वन जाना चाहिए। तो वे उस रथ पर बैठ गये। तो उनमें पिताजी को प्रसन्न करने की वृत्ति तो थी, पर वे भविष्य देख रहे थे। उन्हें ज्ञात था कि भरत चित्रकूट की यात्रा अवश्य करेंगे। वे भरत के शील-स्वभाव से परिचित थे और अन्तर्यामी ईश्वर के रूप में भी इस सत्य को जानते थे। प्रभु उस दृश्य को देख रहे थे। प्रभु ने अपने और भरत की तुलना में भरत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये दो बातें दिखाई।

भरतजी ने यात्रा के समय सबके लिये वाहनों की व्यवस्था की और स्वयं पैदल चले। प्रभु भी केवल तीन दिन ही वाहन पर बैठे। जब तक प्रजा साथ थी, तब तक वे वाहन पर बैठे रहे। प्रभु का उद्देश्य था कि बाद में अयोध्या की प्रजा जब भरत से मेरी तुलना करे, तो उसे दिखाई दे कि राम की अपेक्षा भरत में सेवाभाव अधिक है। राम तो रथ पर बैठ गये और हम पैदल चले, पर भरत इतने महान हैं कि सबको सवारी पर बैठाया और खुद पैदल चले। प्रभु चाहते थे कि लोगों के मन में भरत के गुणों के प्रति आस्था पैदा हो।

प्रभु यह भी बताना चाहते थे कि आप मेरे साथ चले, तो मैंने आपको बीच रास्ते में छोड़ दिया। पर उस अधूरी यात्रा को पूरी कराने की सामर्थ्य तो भरतजी में ही है। अत: आप लोग मेरे पीछे मत भागिए – ईश्वर के पीछे भागने से भी अच्छा है सन्त के पीछे भागना। श्रीराम ईश्वर हैं, तो भरतजी सन्त है। अनुगमन करने के लिये सन्त का चरित्र ईश्वर के चरित्र से भी अधिक उपयोगी है, इस सत्य को एक ओर भगवान राम प्रस्तुत करते हैं। यही श्रीराम का दर्शन है।

दूसरी ओर भरतजी यदि कहते – मुझमें जो इतनी विशेषताएँ बताई गई हैं, उनसे तो लगता है कि मैं सचमुच ही बड़ा महान हूँ; मुझमें बड़ी क्षमता है, बड़ी योग्यता है – तब तो रामराज्य का दर्शन अधूरा रह जाता। श्रीराम के चिन्तन के विपरीत भरतजी ने अयोध्या के नागरिकों से प्रश्न किया – यह आप लोग क्या कर रहे हैं? क्या आप समझते हैं कि भरत को राजसिंहासन देना उपयुक्त है? आपका उद्देश्य क्या है? क्या आप मेरे प्रति उदारता दिखाने के लिए ऐसा कर रहे है या अपने कल्याण के लिये –

एहि तें जानहु मोर हित
कै आपन बड़ काजु ।। २/१७७

क्या आप सोचते हैं कि भरत के सिंहासन पर बैठने से आपकी समस्याओं का समाधान होगा? भरतजी ने सावधान किया कि इसी उतावलेपन के कारण कई बार अयोग्य व्यक्ति भी सिंहासन पर बैठ जाता है। राजा बेन के प्रसंग में ऐसा ही

हुआ था। क्योंकि जब बेन के पिता की मृत्यु हुई, तो उसके स्वभाव तथा दुर्गुणों से परिचित होते हुए भी प्रजा और ऋषि-मुनि बड़े उतावले हो उठे – राजा के बिना राज्य कैसे चलेगा? चलो, इसमें कुछ कमी है, तो भी इसी को राजा बना लेना चाहिए। पर अन्त में बेन के अत्याचार से त्रस्त होकर उन्हीं ऋषि-मुनियों ने बेन को भस्म कर दिया था, क्योंकि बेन ने घोषणा कर दी कि राजा के रूप में साक्षात् ईश्वर मैं हूँ। यदि तुम्हें किसी ईश्वर की जरूरत हो, तो मेरी पूजा करो। मुझे छोड़कर किसी ईश्वर की पूजा वैसा ही माना जायगा, जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी परपुरुष से प्रेम करे। राजा बेन के अन्त:करण में इस प्रकार की वृत्ति आती है और अन्त में मुनियों को उसको भस्म कर देना पड़ा। श्रीमद्-भागवत में यह कथा आती है।

भरतजी ने कहा – आप इतने उतावले होकर जिस पद्धति से मुझे राज्य देना चाहते हैं, आप सोचिए उसमें क्या आपको दोष नहीं दिखाई देता? राज्य की सत्ता मुझे सौंपने के लिए कितना षड्यंत्र किया गया, कितना अन्याय किया गया, किस प्रकार बुद्धि को परिवर्तित किया गया, किस तरह महाराज श्री दशरथ को बाध्य किया गया। उसके पीछे कैकेयी का लोभ, मन्थरा की दुर्बुद्धि और महाराजश्री के जीवन में निर्णय न कर पाने की किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति उत्पन्न हुई। इस पृष्ठभूमि में यदि भरत को राजा बनाने का निर्णय किया गया, तो क्या इससे दूसरों को यह प्रेरणा नहीं मिलेगी कि किसी प्रकार षड्यंत्र करके किसी प्रकार सत्ता प्राप्त कर लेना ही जीवन की सफलता का मार्ग है। आप राज्य प्राप्त करने के लिये षड्यंत्र की परम्परा को बढ़ावा देने की चेष्टा कर रहे हैं। जिस सत्ता के पीछे लोभ, स्वार्थ, षड्यंत्र और नाना प्रकार की दुर्वृत्तियाँ विद्यमान हैं, आप आशा करते हैं कि ऐसा व्यक्ति सिंहासन पर बैठकर समाज के दुर्गुणों को रोक सकता है, तो यह आप लोगों का भ्रम है। भरतजी ने जो भाषण दिया, उसके एक-एक वाक्य में आपको रामराज्य के दर्शन का सूत्र मिलेगा –

कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू।। २/१७९/१

केवल धार्मिक राजा की नहीं, धर्मशील राजा की आवश्यकता है। धार्मिक और धर्मशीलता में अन्तर है। धर्म को कई लोग दिखावे के लिये स्वीकार करते हैं, पर शील उसे कहते हैं कि जब कोई गुण व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाय। कहते हैं – यह बड़ा अध्ययनशील हैं। अध्ययन तो हर विद्यार्थी करता है। परीक्षा में पास होना हो तो अध्ययन करता है और परीक्षा न हो, तो अध्ययन में उसकी कोई रुचि नहीं होती, अध्ययन अरुचिकर लगता है। पर अध्ययनशील उसे कहेंगे, जिससे अध्ययन के बिना रहा ही न जाय। वह अध्ययन करनेवाला नहीं, अध्ययनशील है। भरतजी ने कहा कि किसी को धार्मिक देखकर उसे राजा मत बनाइये, यह देखिये कि वह धर्मशील है या नहीं। अर्थात् धर्म के जो दसों सद्गुण हैं, वे सब उसके स्वभाव के अंग बन चुके हैं या नहीं? कहीं उसने उन्हें केवल प्रदर्शन के लिए तो नहीं स्वीकार किया हुआ है! भरतजी ने याद दिलाया कि कभी-कभी लोग शुरू से ही निर्णय कर लेते हैं कि इस व्यक्ति का चरण शुभ है या अशुभ। किसी के आने से शुभ घटनाएँ होने लगती हैं, तो कहते हैं कि इनका आगमन शुभ है। विवाह के प्रसंग में तो यह धारणा बड़ी व्यापक है। नई बहू घर में आई, मंगल की सृष्टि हुई, तो लोग अनुभव करते हैं कि इसका चरण बड़ा शुभ है। कोई अशुभ घटना हो, तो ऐसा अनुभव करते हैं कि इसके चरण अशुभ हैं। यह कोई यथार्थ बात नहीं है, पर भरतजी का कहना है कि आप मुझे राजा बना रहे हैं, पर क्या आप इसकी कल्पना कर रहे हैं कि वह राजा भविष्य में कैसा होगा? तब वे गिनाते हैं। बोले – पहला, मेरे राज्य का श्रीगणेश ही पिताजी की मृत्यु से हुआ। मुझे जो राजा बना रहे थे, उनके प्राण चले गये। वे जीवित नहीं बचे। क्या आप लोगों ने इतने पर भी यह अनुभव किया कि यदि वे मुझे राजा बनाने को व्यग्र होते, तो मेरे आते तक स्वयं को जीवित न रखते? पर जब उन्होंने मेरे आने से पहले प्राण त्याग दिये, तो उन्होंने मानो अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया। इतना बड़ा अन्याय मुझे न करना पड़े – इसी संकोच तथा पश्चात्ताप में उन्होंने प्राणों का परित्याग कर दिया। इस ओर आपकी दृष्टि क्यों नहीं जाती? फिर स्मरण दिलाया – कैसा दुर्भाग्य है – पिता की मृत्यु हो गई, लोक में जिसका बड़ा महत्त्व है और श्रीराम तथा सीताजी वन को चले गये – साक्षात् ईश्वर जीवन से दूर चला गया है, ईश्वर वनवासी हो गया है। भरतजी पूछते हैं – ऐसी स्थिति में आप मुझसे जो राज्य करने के लिए कह रहे हैं, इसमें आप मेरा हित समझते हैं या अपने किसी बड़े काम की आशा रखते हैं –

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु।।२/१७७

श्रीभरत ने वहाँ पर जो विश्लेषण किया, उसमें उन्होंने इस बात पर बड़ा बल दिया कि आप समस्याओं को तत्काल सुलझाने के प्रयास में और भी उलझन की सृष्टि मत कीजिए। यह इच्छा होना तो स्वाभाविक है कि समस्याएँ सुलझें, उन्हें सुलझाने के लिये, रोग के लक्षण को मिटाने के लिए ऐसी दवा न खा लीजिए, जो किसी नये रोग की सृष्टि कर दे। इसीलिए भरतजी ने समस्याओं का मूल निदान प्रस्तुत किया – इन घटनाओं के पीछे व्यक्ति नहीं है, बल्कि जो व्यक्ति दिखाई देते हैं, उनके पीछे उनके दुर्गुण हैं। वस्तुत: व्यक्ति

तो एक माध्यम होता है, पर उसके द्वारा जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे जो उसका मनोभाव है, दुर्गुण हैं, वे ही मूल कारण हैं। भरतजी बोले – यदि आप लोग चाहते हैं कि अयोध्या में राज्य बने और वह पुण्यमय हो, कल्याणमय हो, आनन्दमय हो, तो आप इस परम्परा पर बल मत दीजिए। व्यक्ति को कोई इस प्रकार बाध्य करे मानो पीछे छूरा लेकर खड़ा हो जाय और कहे कि तुमको यह करना पड़ेगा, यह कहना पड़ेगा, तो वह बेचारा वैसा करता या कहता हुआ दिखाई दे; और उसे सचमुच उस व्यक्ति की चेष्टा मान ली जाय, तो इससे बढ़कर अन्याय की बात क्या होगी? भरतजी द्वारा दिया गया यह सूत्र बड़े महत्त्व का है कि हम समस्याओं के बाहरी समाधान के लिये चेष्टा तो करें, पर इतने उतावले न हों कि वह समाधान अन्य नई समस्याओं की सृष्टि करे।

इसीलिये भरतजी दोषों का वर्णन करते हैं। वे बताते हैं कि समस्या क्या है। वे कहते हैं – अभी अयोध्या की ग्रह-दशा बिगड़ी हुई है, वायु रोग हो गया है, बिच्छू ने डंक मार दिया है और इन समस्याओं को भुलाकर यदि आप शराब को चिकित्सा मान लेंगे, तो आपको योग्य राजा कैसे मिलेगा –

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार।। २/१८०

कोई कष्ट होने पर उसे भूल जाने के लिए जो शराब पी लेते हैं तो ऐसा लगता है कि कष्ट दूर हो जाता है। शराब पीने से भले ही कुछ क्षणों के लिये कोई दुख-कष्टों को भूल जाय, पर वह समाधान नहीं है। उससे दुख दूर नहीं होगा।

भरतजी बोले – गुरुदेव जो समाधान दे रहे हैं, वह तो समस्याओं को केवल भुला देनेवाला है, मिटानेवाला नहीं है। यहाँ पर भरतजी ने काम, क्रोध और लोभ – तीनों की ओर संकेत किया है। इस पूरे घटनाक्रम के पीछे काम, क्रोध और लोभ हैं। जब तक काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त होगी और जब तक इस अनर्थ की परम्परा को रोककर सिंहासन पर श्रीराम को नहीं बिठाया जायगा, तब समाज की समस्या का समाधान नहीं होगा।

तो रामराज्य के सन्दर्भ में भरतजी ने बड़े महत्त्व का सूत्र दिया। इसीलिये गुरु वशिष्ठ ने आगे चलकर चित्रकूट में श्रीराम के समक्ष एक सूत्र प्रस्तुत किया था, जो भगवान राम और भरतजी – दोनों के जीवन में पूरी तौर से चरितार्थ हुआ है। उन्होंने कहा था – राम, तुम भरत की प्रार्थना सुनो, उस पर विचार करो और जो साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेद – इन चारों को सुसंगत हो, उसे स्वीकार करो –

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि।।२/२५८

गुरु वशिष्ठ ने यह जो सूत्र दिया, वह बड़े महत्त्व का है। गहराई से दृष्टि डालने पर आपको लगेगा कि इन चारों में जो साधुमत तथा लोकमत है और राजनीति तथा वेदमत है, इनमें परस्पर विरोधाभास है। साधुमत और लोकमत में बड़ा विरोधाभास है। साधु का मत बदलता नहीं, साधु का मत निश्चित है और लोकमत इतना परिवर्तनशील है, जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। तो साधुमत को महत्त्व दें, तो लोकमत की उपेक्षा होगी और लोकमत को महत्त्व दें, तो साधुमत की उपेक्षा होगी। इसलिए बड़ी समस्या है कि किसको महत्त्व दें? साधु को या समाज को?

एक दृष्टि तो यह हो सकती है कि साधुमत को महत्त्व देना चाहिए। लोकमत की निन्दा भी की गई। लोकमत में जो दोष होते हैं, वे भी बहुत-से होते हैं। लोकमत पर तो गोस्वामीजी ने व्यंग्य ही कर दिया। बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो तो उसे सफलता का एक चिह्न माना जाता है। कितनी बड़ी भीड़ हुई, उस पर बड़ी दृष्टि जाती है। गोस्वामीजी ने भीड़ की वृत्ति पर व्यंग्य किया है और वह बिल्कुल स्वाभाविक आलोचना है। उन्होंने दोहावली (४९४) में कहा –

तुलसी भेड़ी की धसनि जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।

भीड़ जिसको महत्त्व दे दे, उसको अभिमान होता है और यदि उसमें कमी हो जाय, तो बेचारे को ऐसा लगता है मानो सब कुछ चला गया। दोनों ओर समस्या है। तो जनमत की वृत्ति बड़ी विचित्र है, बड़ी अनोखी है। गोस्वामीजी ने इस पर बड़े मीठे व्यंग्य किए हैं और दृश्य भी प्रस्तुत किये हैं कि जनमत कितना परिवर्तनशील है। हनुमानजी जब रावण की सभा में ले जाए गये, तो राक्षसों ने उन्हें बँधा हुआ देखकर उन पर लात भी चलाया, घूँसे भी चलाये, गाली भी दिए –

मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी।।
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। ५/२५/६-७

ताली बजाते हुए चल रहे हैं हनुमानजी के पीछे-पीछे, ढोल बजाते चल रहे हैं, यह कहते चल रहे हैं कि यह चोर है, इसको एक लात मारो। हनुमानजी सब सह रहे हैं। यह उनकी क्षमता है। इसके बाद जब उनकी पूँछ में आग लगाई गई, उन्होंने छलाँग लगाई और लंका जलने लगी, तो जितने लात मारनेवाले, गाली देनेवाले थे, वे तुरन्त कहने लगे – हम तो पहले से ही जानते थे कि वास्तव में यह बन्दर नहीं है। कोई बन्दर क्या ऐसा कर सकता है? जिसने बाग उजाड़ दिया, जिसने इतने राक्षसों का वध कर दिया; अरे, यह तो कोई दिव्य देवता बन्दर के रूप में आया है –

हम जो कहा यह कपि नहिं होई।
बानर रूप धरें सुर कोई।। ५/२६/४

लोकमत की यही भाषा है। घटनाएँ होने के बाद कई

लोग दावा जरूर करते हैं, कि हमने तो पहले ही यह कह दिया था। ज्योतिषी लोग भी, कोई घटना घटती है तो कहते हैं कि इसकी भविष्यवाणी मैंने पहले ही की थी। पर साधारण व्यक्ति भी यह लोभ नहीं रोक पाता, कहता है – मैंने तो पहले ही कहा था कि ऐसा ही होने वाला है और वही हुआ।

तो जनमत कब देवता बनाये और कब लात मारे – इसका कोई ठिकाना नहीं है। लोकमत इतना विचित्र है! और साधुमत क्या है? साधु तो सदा स्वभाव से ही सद्गुण देखता है। साधु के मत में स्वभाव से ही दृढ़ता होती है।

तो सूत्र क्या है? जब जनमत ऐसा है, तो छोड़ो उसका चक्कर! पर रामराज्य में साधुमत का महत्त्व तो है ही, पर लोकमत के इस दोष को समझते हुए भी कहते हैं कि इसका भी सदुपयोग होना चाहिए। कैसे? साधु है दूरदर्शी और उस दर्शन से प्रेरणा भी प्राप्त होती है, उत्साह भी प्राप्त होता है। सन्त के स्वभाव-दर्शन से मन को स्फूर्ति भी मिलती है, अत: सन्त का गुण-दर्शन ठीक है, पर लोकमत का दोष-दर्शन ही स्वभाव है। साधु स्वभाव से दोषदर्शी नहीं होता और लोकमत स्वभाव से ही दोषदर्शी होता है।

जिस व्यक्ति को अपने दोष दूर करने हों, उसे लोकमत की सहायता लेनी होगी। जैसे आपके शरीर में जब कोई रोग हो जाता है, तो आप अपना रक्त जाँच के लिये उस व्यक्ति को सौपते हैं, जो आपके रक्त में छिपे हुए रोग के कीटाणुओं को यंत्र के माध्यम से हजारों गुना बड़ा करके देख ले। तब तो आप यह नहीं सोचते कि यह तो छोटे-से कीटाणु को बहुत बड़ा बना कर देखता है। बल्कि आप स्वस्थ्य चाहते हैं, तो प्रसन्न होते हैं कि चलो, रोग पकड़ में तो आ गया। ये कितने सूक्ष्म कीटाणु हैं, जो इतने भीषण परिणाम की सृष्टि कर रहे हैं। इसी प्रकार यह जनमत एक बहुत अच्छा दोष-परीक्षक है और वह दोष को हजारों गुना बढ़ा कर देखने की कला में बड़ा निपुण है। उसके द्वारा शासन करनेवाले में, हमारे किसी भी क्षेत्र में काम करनेवाले में यह सावधानी आवे कि यह बात यदि जनमत को गलत दिखाई दे रही है, तो हमें उसका भ्रम और संशय दूर करना चाहिए। श्रीराम के चरित्र में इस पर बड़ा महत्त्व दिया जाता है। संशय और भ्रम यदि फैले, तो उसे दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि वह क्यों फैला, यह जानकर उसके निराकरण की चेष्टा करनी चाहिए। यदि कोई छोटा-सा भी दोष हमारे जीवन में है, तो जनमत की दोषदर्शी आँखों से देख-समझकर हम सावधान हो जायें कि यह दोष हमें तो नहीं, पर दूसरों को दिखाई दे रहा है, भविष्य में बढ़ सकता है, इसलिए सावधान रहें। अत: लोकमत के पीछे भागना नहीं है। जो लोकमत के पीछे भागेगा, उसके जीवन से सारे सिद्धान्त समाप्त हो जायेंगे। परन्तु लोकमत से सीखना भी है और उसे सिखाना भी है। इसलिए भगवान राम लोकमत को बड़ा महत्त्व देते हैं।

रामराज्य का सूत्र यह है कि साधुमत से आप सद्गुण पाइए और लोकमत से दोषों के निराकरण के लिए सावधानी लीजिये। भगवान श्रीराम के जीवन में आपको – लोकमत और साधुमत – ये दोनों पक्ष मिलेंगे। ऐसे कोई भी महात्मा नहीं है, जिनके आश्रम में भगवान श्री राघवेन्द्र न जाते हों और उनसे सम्मति न पूछते हों! उनको वनपथ में जाना है, तो भी महात्माओं के पास जाते हैं, भारद्वाज मुनि से पूछते हैं – महाराज, बताइये, मैं किस मार्ग से जाऊँ –

नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं ।। २/१०९/१

यदि कहीं रहना है, तो एक महापुरुष के पास जाते हैं और पूछते हैं – महाराज, मैं क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, राजकुमार हूँ और आप लोग तपस्वी हैं। मैं वन में निवास करूँ, मेरी उपस्थिति से आप लोगों को कष्ट हो, ऐसा स्थान मेरे लिये उपयुक्त नहीं होगा। आप बताइए मैं कहाँ रहूँ। ऐसी जगह बताइए, जहाँ मेरे रहने से किसी को कष्ट न हो –

मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहीं ।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं ।।
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ ।। २/१२६/३,५

इसके बाद जब रावण-वध का संकल्प होता है, तो वे महर्षि अगत्स्य के चरणों में प्रणाम करके पूछते हैं – मुझे ऐसा उपाय बताइये, जिससे मैं उस मुनिद्रोही को मार सकूँ –

अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही ।
जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही ।। ३/१३/३

साधुओं पर कितना विश्वास है! वे महापुरुषों से मंत्रणा करते हैं और उनसे आशीर्वाद तथा आदेश प्राप्त करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖
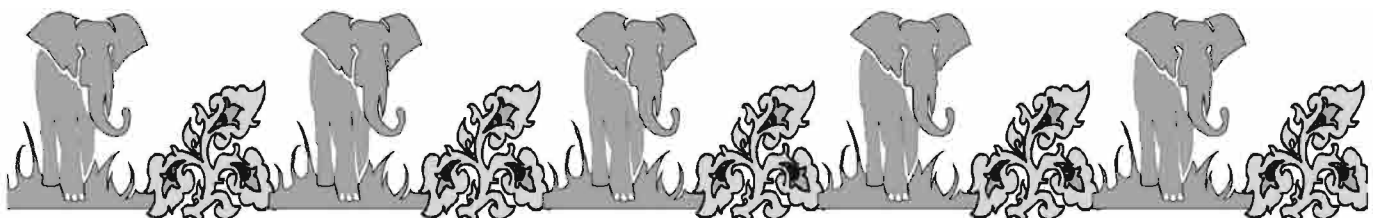
सारगाछी की स्मृतियाँ (१३)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं । महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे । उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं । 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है । पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है । – संपादक)

२२-८-१९५९

रात में सेवक के द्वारा महाराज जी के लिये भोजन लाने में देर करने से महाराज जी बहुत व्यग्र हो गये ।

महाराज जी ने सेवक को देखकर कहा – "देखो, कनाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को एक दिन किसी कार्य से कलकत्ता जाना पड़ा था । उनके आने का समय बीत जाने पर स्वामीजी टहल रहे हैं और छट-फट कर रहे हैं । कोई अवाज सुनते ही बार-बार झाँक कर देख रहे हैं कि कनाई आया कि नहीं? उनलोगों को भी ऐसा ही होता था, तो हमलोगों की तो कोई बात ही नहीं है !

जीवन कितना भयंकर है ! उसे अभी समझ पा रहा हूँ । जीव और जीवन के सम्बन्ध में यदि अभी लिखता, तो ठीक-ठीक लिख सकता था । अभी तुम लोगों के सम्मुख विराट भविष्य है । तुम लोग विपरीत दिशा में चल रहे हो, बाद में मजा आयेगा! जब शरीर में शक्ति कम हो जायेगी, तब समझोगे !

२४-८-१९५९

सबेरे महाराज जी अपने स्वप्न की बात कह रहे हैं – "माँ आयीं, क्या-क्या सब कह रही थीं, अच्छी तरह याद आ रही है । हाँ, किन्तु क्या बोल रही थीं, उसे नहीं कह सकता ।

बाद में सेवक ने एक दूसरे प्रसंग में कहा – हमारे विद्यालय में एक लड़के ने किसी की जेब से चोरी किया था । इसलिये उसे गधे की टोपी पहनाकर रखा गया था । उसके पिताजी को भी बुलाकर डाँटा गया था ।

महाराज – छी: ! छी: ! कितनी लज्जा की बात है ! लड़के ने चोरी की, इसलिये शिक्षक ने पिता को सजा दिया, उनका अपमान किया ! सबमें भगवान हैं, किस परिस्थिति में पड़कर उसने यह कार्य किया है ! उसे समझाने से अवश्य ही वह समझ जाता । यह एक प्रकार की Kleptomania (क्लेप्टोमेनिया) बीमारी है । आजकल तो इसे ठीक किया जा रहा है । मैं देखा हूँ कि सजा देकर उसे अच्छा नहीं किया सकता है । किन्तु प्रेम से व्यक्ति को खरीदा जा सकता है । जैसे हम लोगों के साधुवृन्द प्रेम के कारण इस संघ में आकर रह रहे हैं ।

३१-८-१९५९

सेवक – महराज, विरजा का क्या अर्थ है?

महाराज – जिसमें रजोगुण नहीं है । संन्यासियों के प्रत्येक नाम का अर्थ है – वही तुम्हारा लक्ष्य है, तुम्हें वैसा ही होना होगा ।

सेवक – महाराज जी, क्या साधुओं में रजोगुण नहीं रहना चाहिये?

महाराज – वैसा क्यों? सबके भीतर रजोगुण है । क्या स्वामीजी में रजोगुण नहीं था? रजोगुण रहेगा, किन्तु मैं रजोगुण के अधीन नहीं रहूँगा, रजोगुण मेरे अधीन रहेगा । अपने रजोगुण को किस ओर प्रवाहित करना होगा, उसे मैं समझकर उस ओर संचालित करूँगा । इसलिये तो स्वामीजी ने हमलोगों के रजोगुण को परोपकार में, दूसरों की सेवा में लगा दिया है ।

सेवक – स्वामीजी की कितनी शुद्ध भावना है !

महाराज – अवश्य ही, क्योंकि ठाकुर एवं स्वामीजी अभिन्न हैं । हमलोगों की जितनी बुद्धि है, उससे यही समझ में आता है । जो भी ईश्वर कोटि के हैं, उन लोगों की भावना शुद्ध है ।

८-९-१९५९

महाराज – शिव को 'भूतनाथ' कहते हैं, अर्थात् वे भूत-प्रेतों के साथ खेलते रहते हैं । किन्तु, भूत का अर्थ होता है 'जीव', 'प्राणी' – "मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित: ।" अर्थात् जो जीवों के, सभी प्रणियों के संचालक हैं, वे ही ईश्वर हैं । श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक हैं । जब सृष्टि करते हैं, तब ब्रह्मा हैं, जब पालन करते हैं, तब विष्णु और जब प्रलय करते हैं, तब शिव हैं ।

महाराज जी के स्नेह-प्राप्त एक ब्रह्मचारी स्कूल में प्रधानाचार्य हैं । वे स्कूल में ठाकुर जी का नाम आदि प्रचार करना चाहते हैं ।

महाराज – बहुत अच्छा, किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के भाव को रखने का प्रयत्न करना । रामकृष्ण–भाव का भक्त बनाओ । अयोग्य व्यक्ति के हाथों में पड़ने से बहुत उच्च भाव भी नष्ट

हो जाता है। दूध में जल मिलाने से जल का मूल्य बढ़ता है, किन्तु दूध का मूल्य घट जाता है।

मेरी इच्छा है – 'कृष्ण चरित्र' का प्रचार करना। साधारण लोगों ने भगवान श्रीकृष्ण को बालिका के रूप में सजा दिया है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत ने भी उन लोगों को आकर्षित करने के लिये ग्यारह वर्ष के श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के आकर्षण की बात कही है। वास्तव में वन्दना-स्तोत्रों को मनुष्य की बुद्धि में प्रवेश कराने के लिये विभिन्न प्रकार की कहानियों की रचना करनी पड़ी। जैसे, रजोगुणियों के लिये 'चण्डी' श्रीदुर्गासप्तशती में मार-मार, काट-काट से सम्बन्धित कहानी दी गयी है।

वास्तव में श्रीकृष्ण जैसे पुरुष ने आज तक इस पृथ्वी पर जन्म नहीं लिया। वे विद्या में, बुद्धि में, शक्ति में, योग में एवं कर्म में, सभी क्षेत्रों में सबसे आगे हैं, किन्तु कार्य समाप्त हो जाने पर वे सबके पीछे खड़े हो जाते हैं। उन्होंने युधिष्ठिर की सभा में ब्राह्मणों के चरणों का प्रक्षालन किया। शत्रु-संहार होने के बाद, अब किसी प्रकार के प्रतिशोध की भावना उनके मन में नहीं है, सर्वदा प्रशान्त मुद्रा में विराजमान हैं। श्रीकृष्ण किसी भी देश को जीत कर स्वयं राजा नहीं बने। वे भारतीय संस्कृति के वास्तविक उदाहरण हैं।

श्रीकृष्ण और व्यासदेव हमलोगों के ठाकुरजी एवं स्वामीजी के समान हैं। परन्तु, भारतीय संस्कृति का ज्ञान नहीं रहने से श्रीकृष्ण को समझा नहीं जा सकता।

९-९-१९५९

महाराज – देखो, जब मैं मरूँगा, तब बहुत धीरे-धीरे ठाकुरजी का नाम सुनाना। और ठाकुर, माँ और स्वामीजी इन तीनों का चित्र मेरे सामने रखना। ''माँ-माँ'' कहते हुये आँखें बन्द करूँगा। माँ, मेरी गुरु हैं, ईष्ट हैं। इसलिये माँ हमारे लिये ठाकुरजी से भी अधिक बड़ी और पूज्य हैं।

साधुओं के जीवन में यदि ईश्वर में मन नहीं लगता है, तो बाहरी आकर्षण से बचने का उपाय नहीं है। रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श, ये पाँचों तो सर्वदा बाहर ही खींच रहे हैं। फिर वैसे ही अन्दर में मन, बुद्धि एवं उनकी क्रियायें, उसके कारण बीज एवं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, विभिन्न प्रकार के कार्य-कलाप हैं। यदि मन को इधर ला सकते हो, तो बाहर के आकर्षण से बच जाओगे।

हृदय के अन्दर एक छिद्र है, उसी छिद्र में से उस पार जाया जाता है। नित्य अभ्यास करते-करते जब छिद्र बड़ा हो जायेगा, तब उसके भीतर से जा सकोगे।

सेवक – महाराज, ध्यान के समय हाथ को हृदय पर रखना होगा या पेट के ऊपर की ओर?

महाराज – जप के समय तो हाथ वैसे ही रखते हैं, किन्तु ध्यान के समय क्या मन हाथ में रहता है? हमारे ठाकुरजी जैसे बैठे हैं, वैसे हाथ रहने से ही ठीक है। असली बात है, मन को समेट कर लाना और ध्येय वस्तु में मन को बाँधना, मन को लगाना। क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या त्याग करने योग्य है, ऐसा विचार करने का तात्पर्य है – अलग-अलग करने की क्षमता का होना। ज्ञान के द्वारा विचार करके देखना है कि भक्ति प्राप्ति करने के लिये क्या-क्या ग्रहणीय और त्याज्य है।

सेवक – किन्तु, लगता है कि हमलोगों के लिये कोई उपाय नहीं है।

महाराज – यह वैष्णवों जैसी भावना है – मैं पापी हूँ। किन्तु हम लोगों का ऐसा विचार नहीं है।

हम लोगों का विचार है – ''प्रत्येक आत्मा में दिव्यता विद्यमान है – (Each Soul is potentially Divine)

सेवक – किन्तु, कहाँ घर छोड़ कर आ सका?

महाराज – ढाका में स्वामी चण्डिकानन्द जी ठाकुरजी के उपदेशों को लोगों को सुनाते थे। एक व्यक्ति आँखों से आँसू बहाते हुए आकर कहा – ''महाराज ! हम लोगों की कोई आशा नहीं है।'' ''क्यों?'' उसने कहा – ''कहाँ महाराज ! अभी तक घर छोड़कर नहीं आ सका।''

उनका जितना धर्म है, घर छोड़ने में ही है। वे अभी भी माता-पिता का त्याग न कर सके, इसलिये अभी कैसे उनका धर्म सम्भव होगा? (ऐसा उनका सोचना है।) हमेशा ध्यान रखना कि धर्म वस्त्र में नहीं है, घर छोड़ने में नहीं है और दर्शन में नहीं है। यह बनना और होना है ... 'Being and Becoming' – धर्म होते-होते हो जाता है।

मैंने बहुत से लोगों को देखा है कि सब कार्य छोड़ कर बेकार पड़े रहते हैं। यदि थोड़ा सा भी कोई काम दे दो, कोई सामाजिक दायित्व दे दो, तो देते ही उसी में मस्त हो जाता है। देखो, मैंने जीवनभर देखा है कि चारों योगों को एक साथ नहीं करने से, धर्म नहीं होता। महाशय कर्म करने में तो मस्त हो रहा है, किन्तु उसे ध्यान भी ठीक से करना चाहिये। फिर डर लगता है कि हो सकता है कि कह दे ऋषिकेश में भिक्षा करके खाऊँगा और वहीं रहूँगा। कार्य तो थोड़ा-बहुत रहना ही चाहिये। कर्म छोड़ना चित्तशुद्धि का उपाय नहीं है। स्वामी विवेकानन्द का मंत्र – ''आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्धिताय च।'' स्वयं की मुक्त के लिए ही जगत का कल्याण, यह ठीक नहीं रहने से संसार के झमेले में मतवाला हो जाओगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी प्रेमानन्द के उपदेश
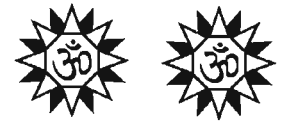
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

संसार स्वार्थपूर्ण है – यह पक्की बात है, परन्तु जब संसार में रहना ही होगा, तो 'संसार स्वार्थपूर्ण है' आदि कहकर व्यर्थ का विचार करना युक्तिसंगत नहीं है। एक बार विचार तथा युक्ति की सहायता से इस वाक्य की सत्यता की धारणा करके कार्य में लग जाना होगा।

संसार स्वार्थपूर्ण हुआ करे, परन्तु देखना होगा कि इसी कारण कहीं मैं भी स्वार्थपर न हो जाऊँ।

भगवान की माया से ही स्वार्थ की सृष्टि हुई है, स्वयं को स्वार्थहीन बनाना होगा। निःस्वार्थता ही भगवान हैं।

अपना स्वार्थ न देखकर दूसरों का स्वार्थ देखना ही साधुता है।

एक व्यक्ति स्वार्थपर है, इसीलिए क्या मुझे भी स्वार्थपर बनना होगा? जगत् की सारी स्वार्थपरता को सहन करते हुए हमें स्वार्थ के गन्ध तक से रहित होना होगा, यही आदर्श है।

धर्म के पथ पर पूरे मन-प्राण से अग्रसर होना चाहिए।

तेज रहे बिना कुछ भी न होगा। यह तेज रूप रजस् हृदय में आये बिना सत्त्वगुण कभी नहीं आ सकता। सत्त्वगुण आये बिना ब्रह्म भी कभी अभिव्यक्त नहीं होगा।

ठाकुर के भाव के अनुसार कार्य करना ही ठाकुर को सम्मानित करना है, केवल दो फूल चढ़ाकर या भाव में दो मिनट 'अहा, अहा' करके कोई भी बड़ा नहीं हुआ है।

ठाकुर की उक्तियों को ध्यानपूर्वक लेना होगा। तभी उनके भीतर का अर्थ जाग्रत हो उठेगा।

भगवान को यदि अपना मन न समर्पित कर सको, तो फिर काशी-मक्का जाकर क्या होगा?

शरीर चाहे जहाँ भी रहे, मन को श्री गुरु के चरण-कमलों में रख दो। चिन्ता की क्या बात है?

लम्बी-चौड़ी बातें कण्ठस्थ करने या तीर्थ में साधुओं के संग में पड़े रहने से भी कुछ नहीं होता। श्रद्धा, व्याकुलता और मन-मुख एक होना चाहिए।

तुम लोग भारत के आदर्श त्यागी हो, तुम्हें निश्चित रूप से आदर्श जीवन गढ़ना होगा।

पवित्र होओ, निष्कपट होओ और हृदय से प्रार्थना करो – प्रभु रक्षा करो, प्रभु रक्षा करो, प्रभु रक्षा करो।

सेवा क्या कोई साधारण वस्तु है! ठाकुर गाया करते थे – (भावार्थ) "मेरी भक्ति जिसे मिलती है, उसे सेवा का अधिकार मिलता है, उसकी बराबरी कौन कर सकता है! वह त्रिलोकजयी होता है।"

केवल नाचने-कूदने से ही क्या प्रभु का भक्त हुआ जाता है, या फिर क्या मुख से फटाफट शास्त्र उगलने से ही बड़ा भक्त हुआ जाता है? स्वार्थत्याग चाहिए, निरभिमानिता चाहिए। इस युग में निष्काम कर्मवीरों की आवश्यकता है।

प्रेमी व्यक्ति लोगों के दोष-गुणों की ओर ध्यान न देकर प्रेम कर-करके ही मरता है; और मरता भी कहाँ है? प्रेम के द्वारा अनन्त जीवन – अमरत्व को प्राप्त होता है। आओ इस रत्न को लूटकर हम समृद्ध हो जायँ।

भाग्यवश हमारा इसी समय जन्म हुआ है, इसीलिए रक्षा है, अन्यथा चारों ओर दावानल, बड़वानल और जठरानल प्रज्वलित है। इस भयानक अग्निकाण्ड के भीतर तुम क्या कर सकते हो? यदि हो सके तो प्रेमी बनो, आनन्द पाओगे, शान्ति पाओगे।

भगवान मंत्र नहीं देखते, प्राण चाहते हैं; तुम तन्मयप्राण होकर पूजा करना, इसी से हो जायगा।

केवल कार्य करने से जीवन शुष्क हो जायगा; इसीलिए भक्तियोग चाहिए, विचार चाहिए और ज्ञान भी चाहिए। खूब पवित्र और सत्यनिष्ठ होना।

केवल जप करने से ही सिद्ध नहीं हुआ जाता। आदर्श जीवन देखे बिना कैसे समझोगे कि हमारा उद्देश्य यह है।

किसी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-द्वेष करने से ही 'जगत् पसेरा' (विश्वव्यापी) राम के प्रति ही ईर्ष्या-द्वेष करना होता है।

ठाकुर के नाम पर जगत् जाग उठे, चैतन्य प्राप्त करे।

प्रेम की लहरों में सारा देश डूब जाय, भाव की बाढ़ आ जाय, हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सब डूब जायँ। छोटा-बड़ा – कोई भी बाकी न रह जाय।

भौतिक विज्ञान निश्चित रूप से आनन्द और शान्ति के प्रचार में असमर्थ है। ठाकुर ही शान्ति का पथ दिखाने के लिए छद्मवेश में, अपढ़ के वेश में आये थे। पाण्डित्य का गर्व चूर्ण करने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ है।

मटके के नीचे यदि एक भी छिद्र रहा, तो उसमें चाहे जितना भी पानी रखो, उस पात्र में कुछ भी नहीं टिकेगा।

इन छिद्रों को बन्द करने का मसाला है – भगवान का नाम-जप, श्रवण, मनन, पाठ, पूजा और प्रार्थना।

युवको, सावधान ! अब एकमात्र श्रीरामकृष्ण का जीवन ही तुम लोगों का आदर्श है। उसी का अनुसरण करो, तभी तुम नये बल से बलवान बनोगे, यह निश्चित जान लेना।

हम लोगों में क्या अभिमान-अन्धकार दूर होकर भक्ति-प्रेम का उदय नहीं होगा?

तुम तीन आदमी एक नहीं हो पाते, दम्भ को त्याग नहीं पाते, प्रेम में उन्मत्त होकर स्वयं को भूल नहीं पाते, जीवित रहते ही मृतवत् नहीं हो पाते; और चाहते हो भगवान को !

हम लोग पूरे जगत् को मिलाकर एक जाति बनाना चाहते हैं। एक-दूसरे के केवल गुण ही देखना, दोषों की ओर बिल्कुल भी ध्यान मत देना।

जब घर छोड़ा है, तो भक्तों को ही परम आत्मीय समझना।

अपने अपने दोषों को ढूँढ़ निकालने का प्रयास और उसे सुधारने का कौशल सीखने का नाम ही साधना है।

अपने भीतर और बाहर प्रेम से परिपूर्ण कर लेना होगा।

हम लोग मिट्टी के खिलौने लेकर उन्मत्त हैं। कामिनी-कांचन, मान-इज्जत पाकर सब कुछ विस्मृत हो गया है। इसीलिए कृपानिधान दया करके बहुजन-हिताय हमारे बीच महामारी, अकाल, विश्वयुद्ध आदि लाते हैं।

कवित्व छोड़कर कार्य में लग जाओ।

जो स्वार्थ और सुख-सुविधा का त्याग न कर सके, वह भी क्या मनुष्य है? ठाकुर का नाम भी लेगा और स्वार्थी भी होगा? वह मिथ्याचारी है, उसकी उन्नति कैसे होगी?

पाऊँगा, पाऊँगा, इसी मन से भगवान की प्राप्ति करूँगा – ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए। होगा, होगा, मेरा निश्चित रूप से होगा – इसी निश्चयात्मिका बुद्धि की आवश्यकता है।

कर्म-सेवा के द्वारा यदि जीवन नहीं गढ़ सका, तो वह कुछ भी नहीं है; यह जो कर्म आदि है, सब राख-भस्म है। कौन किसका भला करेगा? बल्कि इसमें पड़कर अपना कल्याण – चित्तशुद्धि हो जाती है; अपूर्व धैर्य तथा सहिष्णुता प्राप्त होती है। इस जीवन-समस्या में यही क्या कम लाभ है?

मैंने सोचा था कि ठाकुर के आश्रय में आकर परीक्षा के हाथ से छुटकारा पा गया, परन्तु अब देखता हूँ कि पग-पग पर परीक्षा है।

यदि तुम सरदार होना चाहते हो, तो पहले अपने सिर का दान करो।

यह व्याख्यान देकर, उपदेश लिखकर ठाकुर के प्रचार का समय नहीं है, यह समय है उनके साँचे में आदर्श जीवन गढ़कर दिखाने का।

ठाकुर के आविर्भाव होने के कारण इस समय भगवान की कृपा से भक्ति-प्रेम की बाढ़ आयी हुई है। डूब जाओ, उन्मत्त हो जाओ; भय की कोई बात नहीं, भय की कोई बात नहीं। छलाँग लगाओ, अमर हो जाओगे। हे जीव, नवजीवन प्राप्त करो, नये रास्ते पर बढ़े चलो।

शास्त्र को मानना पड़ता है, स्वाधीन विचार करके सभी लोग स्वयम्भू नहीं हो सकते।

व्याकुलता ही एक मंत्र है, यह महाभाग्य की चीज है; जिस-तिस को नहीं होती।

व्याधिग्रस्त होने पर ही लोग वैद्य को बुलाते हैं और उसकी बात मानकर चलते हैं। यदि किसी को यह संसार तथा शरीर एक महान् बन्धन प्रतीत हो, तभी उसे भोग के प्रति अरुचि होगी, भगवान में अनुराग बढ़ेगा और नाम-जप आदि रूपी औषधि आयेगी।

प्रारम्भ में बलपूर्वक नाम लेना पड़ता है, बाद में उसमें आनन्द मिलेगा, तब उसका जप किये बिना रह नहीं सकोगे।

जो लोग ठीक-ठीक ईश्वर में विश्वासी हैं, छोटे-मोटे काम-क्रोध भला उनका क्या कर सकते हैं? सोचना कि हम लोग भगवान के दास हैं, विश्वनाथ की सन्तान हैं, मदनान्तक शूलपाणि के पुत्र हैं।

ठाकुर कहा करते थे – गुरु मिले लाख-लाख, चेला मिले न एक। सभी लोग गुरु बनना चाहते हैं, उपदेश देना चाहते हैं। उपदेश को जीवन में रूपायित करना कोई भी नहीं चाहता। एक व्यक्ति शिष्य होने की इच्छा से गुरु के पास जाकर बोला – मुझे शिष्य बना लीजिए। गुरुदेव ने कहा – शिष्य बनने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है; तुम कर सकोगे? शिष्य ने पूछा – क्या करना पड़ता है? गुरु बोले – यही लकड़ी चीरना, पानी भरना, भोजन पकाना, गुरु के पाँव दबाना आदि सब करना पड़ता है। शिष्य ने कहा – और गुरु को क्या करना पड़ता है? गुरुदेव बोले – वे बैठे-बैठे उपदेश देते हैं और सेवा ग्रहण करते हैं। शिष्य तत्काल कह उठा – तब तो मुझे गुरु ही बना दीजिए।

दो-एक पुस्तकें पढ़कर, दो-चार उपदेश सीखकर, कुछ श्लोक रटकर लोग गुरु बनना चाहते हैं। कोई साधना करना नहीं चाहता। ❑❑❑

माँ का दर्शन और कृपा

शैलेन्द्र चन्द्र बसु

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

विधाता की असीम कृपा और अकल्पनीय ढंग से १९१८ ई. के आश्विन मास में दुर्गापूजा के आठ-दस दिन पूर्व मैं श्रीमाँ सारदा देवी का दर्शन और कृपा पाकर धन्य हुआ। सब कुछ अयाचित तथा दैवी कृपा के द्वारा ही सम्भव हुआ, अन्यथा मैंने तो कभी उनके दर्शन या उनसे दीक्षा पाने के बारे में सोचा तक नहीं था। दैव ही प्रबल और सर्व-शक्तिमान हैं, जिसकी इच्छा से सभी कार्य साधित और सुसम्पन्न होते हैं।

मैं प्राय: ही बागबाजार में पूज्य बलराम बसु के घर जाता था, क्योंकि वहाँ उस समय पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) रोगशय्या पर थे और राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) कुछ शिष्यों तथा सेवकों के साथ उनकी देख-रेख और सेवा-शुश्रूषा में व्यस्त रहते थे।

एक दिन दोपहर में मैं वहाँ गया और राखाल महाराज को प्रणाम करके उनकी चरणधूलि ली। ब्रह्मचारी कृष्णलाल महाराज उद्बोधन में रहते थे और बाबूराम महाराज को देखने आते थे। मुझे देखकर बोले "देख, आज कुछ भक्त माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गये हैं। रास्ता खराब और भयावह होने के कारण वे लोग दो-एक संगी खोज रहे थे, यहाँ तक कि वे लोग खर्च भी देने को तैयार थे।" मैं दुखी होकर बोला, "हाय ! मैंने ऐसा सुअवसर पाकर भी खो दिया।"

कुछ दिनों बाद दैवानुग्रह से फिर वैसा ही अवसर उपस्थित हुआ। उस दिन बलराम बाबू के घर गया था। वहाँ कृष्णलाल महाराज से भेंट होने पर उन्होंने सोल्लास कहा, "तुम्हारे मैमनसिंह के भक्त द्विजेन्द्रनाथ दत्त और मठ के साधु निर्मल (स्वामी माधवानन्द) कल सुबह की ट्रेन से जयरामबाटी जा रहे हैं। यदि तू चाहे, तो उनके साथ जा सकता है।" द्विजेन्द्र बाबू के घर का पता लेकर मैं तत्काल निकल पड़ा और उनसे मिलकर अगले दिन हावड़ा स्टेशन पर दस बजे मद्रास मेल पकड़ा और खड्गपुर स्टेशन पर ट्रेन बदलकर गोमो एक्सप्रेस से विष्णुपुर पहुँचा। उस समय दोपहर के प्राय: दो बजे होंगे।

रात में बीस-पचीस बैलगाड़ियाँ या भैंसागाड़ियाँ एक साथ चलती थीं, क्योंकि रास्ता चोरों-डकैतों का निवास-स्थल होने के कारण खतरे से भरा था। अत: बहुत-से लोग एक साथ चलते थे। रात में गाड़ीवान हाथ में जलती हुई मशाल से युक्त लाठी और घातक अस्त्र लेकर जागते हुए चलते थे। इसके पूर्व मैं कभी बैलगाड़ी पर चढ़ा नहीं था। हम तीन जन दो गाड़ियाँ ठीक करके चले – एक में निर्मल महाराज और दूसरी में हम दोनों थे। गाड़ी में फूस का बिस्तर लगा था, जिसमें करवट बदलने में कष्ट होता था। गाड़ी जब रात के तीन बजे गैलाग्राम में पहुँची, तो मैं गाड़ी से उतरकर पैदल चलने लगा। वहाँ विशाल जंगल था, हिंसक जीव भी थे। कच्चे मैदानी भयपूर्ण रास्ते से होकर जाना पड़ता था। यह दूरी लगभग तीस मील की थी। इसे 'वन-हुगली' कहते हैं। पूर्व काल में इसे 'गुप्त वृन्दावन' कहते थे। विष्णुपुर में प्राचीन देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर हैं। हम लोगों को कोतुलपुर में गाड़ी छोड़नी पड़ी। उसके आगे जाने के लिये कोई साधन नहीं था, क्योंकि रास्ता कीचड़ से परिपूर्ण और जलमग्न था। अब पैदल ही सीधे रास्ते से या संकीर्ण अर्थात् दुर्गम रास्ते से जाना पड़ता था। सामान ढोने के लिये कुली और पथ-प्रदर्शक की भी जरूरत पड़ती थी।

विष्णुपुर से कोतुलपुर १२ मील का रास्ता है। कोतुलपुर बाजार से लोगों को जुटाना पड़ता है। उन दिनों रसगुल्ले पाँच आने सेर मिलते थे। सस्ता होने के कारण हम दोनों ने एक-एक सेर रसगुल्ले खाये और सुबह ७ बजे अपने रास्ते पर चल पड़े। मार्ग में कहीं पैर कीचड़ में धँस जाता, तो कहीं काँटे चुभ जाते। अत: बड़े कष्ट और सावधानी से चलते हुए हम कोआलपाड़ा घाट पर जा पहुँचे। मैं बीच-बीच में दुख प्रगट करते हुए कहता, "इस रास्ते पर भी कहीं आदमी चलता है?" लेकिन पुराने भक्त द्विजेन बाबू नाराज होकर बोले, "क्यों रे छोकरे, आदमी कितने कष्ट सहकर केदार-बद्री जाता है और तुझे इतने में ही कष्ट हो रहा है?" कोआलपाड़ा पहुँचते, दिन के करीब १० बज गये। कोआलपाड़ा मठ के अध्यक्ष स्वामी केशवानन्दजी खेत में बीज डाल रहे थे। वे हम लोगों का रास्ता रोककर खड़े हो गये, बोले, "आप लोग आगे मत जाइये। यहाँ भोजन एवं विश्राम करके तीन बजे जयरामबाटी के लिये रवाना होइयेगा, क्योंकि माँ ने दोपहर के धूप में जाने से मना कर रखा है – धूप में झुलसते हुए जाने से माँ को कष्ट होता है।" अत: हमने यात्रा को

वहीं स्थगित करके स्नान तथा भोजन किया। उस समय वहाँ एक बुनाई का विद्यालय और शिक्षालय था। यहाँ साधु लोग छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को शिक्षा देते थे, जिनमें से कई वहीं रहते थे। कोआलपाड़ा से जयरामबाटी १० मील का रास्ता है। जयरामबाटी से कलकत्ता आते-जाते समय माँ रास्ते में यहीं विश्राम करती थीं। इसलिये यहाँ एक बड़ा कुआँ और उसके पास एक बैठकघर बनाया गया है। स्वामी केशवानन्दजी ने तीन बजे हमारा सामान ढोने के लिये कुली और रास्ता दिखाने के लिए स्वामी ईशानानन्द (वरदा महाराज) को हमारे साथ भेज दिया। हम लोग आनन्दपूर्वक मार्ग पर आगे बढ़ने लगे। पूरा रास्ता वैसे ही कीचड़ से भरा था। कई गाँवों को पार करने के बाद हमें दूर से जयरामबाटी दीख पड़ा। एक-दूसरे से सटे-सटे मकान और वृक्षों से परिपूर्ण इन गाँवों को घेरकर आमोदर नदी बहती है। उससे थोड़ी ही दूर हमें एक छोटा-सा गाँव दिखा। आमोदर नदी बीच-बीच में सूख जाती है और कभी-कभी बिल्कुल भर जाती है तथा प्रवाह तीव्र हो जाता है। वहाँ एक छोटे-से जीर्ण नाव में एक लम्बी रस्सी के सहारे दूसरे पार जाया जाता था।

नदी के किनारे एक घाट था। वहाँ माँ स्नान करती थीं और उसे 'गंगा' कहती थीं। शाम होते-होते हम लोग माँ के घर जा पहुँचे। उस समय माँ सामने के द्वार के चौखट पर हाथ रखे खड़ी थीं। उसी अवस्था में हम लोगों ने कीचड़-सने पैरों से ही माँ को प्रणाम किया। माँ ने हमारे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, फिर अपना हाथ चूम लिया। इसके बाद उन्होंने हमारे बैठने के लिये आसन बिछा दिया। वहाँ यही प्रथा थी कि किसी के आने पर उसी अवस्था में (अर्थात् बिना हाथ-पाँव धोये ही) माँ आशीर्वाद की भिक्षा देतीं। बैठने के बाद हमने उद्बोधन से लाया हुआ माँ के नाम पत्र तथा ललित बाबू (ललित मोहन चट्टोपाध्याय) द्वारा भेजी गयी मलेरिया की एक डिब्बा (होम्योपैथिक) औषधि माँ के चरणों में रख दी। उन्होंने निर्मल महाराज से सबका कुशल पूछा। मुझे दिखाकर निर्मल महाराज बोले, "यह लड़का आपसे दीक्षा पाने आया है।" माँ ने कहा, "कल सुबह होगी।" बातचीत के दौरान महाराज द्वारा बम्बई में चावल की दर बाइस रुपया हो जाने तथा अन्य स्थानों में भी अकाल के लक्षण की बात कहने पर माँ ने कहा, "हाय, ठाकुर ! तुम आये पर लोगों की दु:ख-दुर्दशा कम नहीं हुई।" यह कहकर करीब पन्द्रह मिनट बीत जाने पर भी – हम लोगों के नवनिर्मित घर में, जहाँ शरत महाराज रहते थे, चले जाने पर भी माँ की शोकपूर्ण आवाज सुनाई दे रही थी। इस पर सभी बड़े दुखी हुए विशेषकर निर्मल महाराज बोले, "अन्य लोगों के दुख की बात न कहना ही अच्छा था, क्योंकि लोगों के दुख की बातें माँ के प्राणों को विशेष रूप से आघात पहुँचाती हैं।"

माँ अपने हाथों से भक्तों की सेवा करती थीं। उनके कमरे के बरामदे में खाना पकाने की व्यवस्था थी। वे स्वयं ही भक्तों की सेवा करना पसन्द करती थीं। यहाँ तक कि उनकी जूठी पत्तल स्वयं ही उठातीं। किसी के उठाने पर वे आपत्ति करतीं। कहतीं, "मैंने तुम लोगों के लिए किया ही क्या है?" उनके हाथ से काम ले लेने पर वे दु:खी होतीं और कहतीं, "मैंने तुम लोगों के लिए ऐसा किया ही क्या है?"

उन्होंने अपने हाथ से भोजन पकाकर हम लोगों को तृप्तिपूर्वक खिलाया। उनका बनाया हुआ भोजन बड़ा अद्भुत रूप से सुस्वादु होता था। लगता मानो अमृत खा रहे हो। माँ के हाथ का अमृततुल्य सुस्वादु भोजन खाकर ऐसा लगा मानो हम माता अन्नपूर्णा के हाथ का प्रसाद पाकर धन्य हो गये। हम लोग रात के विश्राम के लिए निर्दिष्ट कमरे में सोये। जब हम खूब सुबह ही उठकर बाहर निकले, तो माँ को वहाँ खड़ी देखा। लगा कि माँ शायद पूरी रात जगी ही रहीं। इसके पहले कोई भी कमरे से बाहर नहीं निकला था। हम लोगों ने भी सर्वप्रथम माँ को ही प्रणाम किया। वे स्नेहपूर्वक बोलीं, "जाओ बेटा, प्रात:कृत्य आदि से निवृत होकर तालाब में स्नान कर आओ।" जब मैं स्नान आदि करके लौटा, तो माँ ने मुझे पूजा के कमरे में बुलाया और अपनी बायीं ओर के एक अन्य आसन पर बैठने को कहा। उन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रखकर बीजमंत्र प्रदान किया और पूछा, "तुम लोग शाक्त हो या वैष्णव? मैं उसे ठीक से न जानने के कारण बोला, "मैं ठीक-ठीक नहीं जानता।" मेरे मन में यह विश्वास था कि माँ तो सब कुछ जानती हैं, फिर मुझसे क्यों पूछना? उन्होंने मंत्र देकर जप की गिनती करना सिखा दिया। उन्हें प्रणाम करने के बाद मैं कमरे से बाहर चला आया। यही माँ का नवनिर्मित घर था। अन्य सभी लोगों ने बाद में माँ को प्रणाम किया। पूजा से उठने के बाद माँ ने हम लोगों के नाश्ते के लिए कटोरों में मुरमुरे तथा गुड़ भिजवा दिये। हमने उसे आनन्दपूर्वक खाया। उसके बाद उन्हें घर के आखिरी छोर पर स्थित तालाब के किनारे के वृक्ष के नीचे की पगडण्डी पर माँ को हाथ में एक घड़ा ले जाते हुए देखा। परन्तु वहाँ कोई हाट-बाजार न होने के कारण वे पड़ोसियों के यहाँ से ही थोड़ा-सा दूध जुटाकर ले आयीं।

घर के आँगन में थोड़ा कीचड़ जमा हुआ था, मैंने देखा कि वे अपने हाथों में एक बाँस लेकर उसे साफ कर रही हैं। लेकिन क्षमता होते हुए भी मैं उनकी कोई सहायता नहीं कर सका। केवल दर्शक के रूप में चुपचाप निश्चेष्ट बैठकर देखता रहा, क्योंकि माँ के हाथ से कोई काम ले लेने पर वे नाराज होती थीं।

उस दिन दोपहर में हम ठाकुर की जन्मभूमि कामारपुकुर के लिये प्रस्थान करनेवाले थे। अत: माँ हमारे दोपहर के

भोजन की व्यवस्था कर दीं। यह रास्ता अपेक्षाकृत अच्छा था। अमोदर नदी को पार करके पाँच मील पैदल चलना पड़ता था। वहाँ से हम लोग चारों ओर के गाँव तथा वृक्ष आदि देखते हुए आगे बढ़ने लगे और ठीक संध्या के पूर्व ठाकुर के घर पहुँचकर उनके भतीजे शिबू दादा से मिले। वे हम लोगों को आदर सहित घर के भीतर ले गये और समय न होने के कारण उसी समय लालटेन लेकर चीनू शाँखारी का तुलसी-मंच दिखाने ले गये। वहाँ संध्या के समय कीर्तन और पूजा होती थी। उस समय वहाँ कोई बस्ती ने होने के कारण संध्या को तुलसी-मंच पर प्रदीप जलाया जाता था। समयाभाव के कारण विशेष कुछ देखना नहीं हुआ। रात में हमने उन्हीं के घर विश्राम किया। एक बात यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि शिबू दादा के छोटे पुत्र बड़े अच्छे गायक थे। कमरे की दीवाल पर ठाकुर का चित्र काफी ऊँचाई पर लगा हुआ था। अत: उन्होंने उँगली से संकेत करके बताया, "यह चाचाजी का चित्र है। जैसे हम ठाकुर के भतीजों को रामलाल 'दादा' और शिवराम 'दादा' कहकर सम्बोधित करते थे, वैसे ही उनके लड़के भी हमें 'काका' कहकर सम्बोधित करते। उनके पुत्र ने भोजन के बाद बहुत रात तक हमें भजन सुनाये। इस परिवार के लोगों का गला विशेष रूप से मधुर है। अगले दिन खूब सबेरे ही हम लोग जयरामबाटी लौट आये। घर के पास ही भानुबुआ रहती थीं। खबर पाकर वे हमें देखने आयीं और बोलीं, "अब तो 'बाबा' के बच्चे बहुत कम हैं, अधिकांशत: माँ के बच्चों को ही देख रही हूँ। उन्होंने हमें वे भजन सुनाये, जो वे ठाकुर के समक्ष गाया करती थीं। उन्हें सुनकर हमने अपने को बड़ा भाग्यवान माना। भोजन के बाद हम लोग विदा लेने की तैयारी करने लगे। माँ ने अपना भोजन समाप्त करने के बाद एक कटोरी में दूध-भात का अपना प्रसाद हम लोगों के लिये बाहर भिजवाया। हमने उसे ग्रहण किया। लगा मानो वे दूध थोड़ा अधिक मीठा लेती थीं। अब विदाई का समय था ! हम लोग माँ के घर जाकर उन्हें प्रणाम करके रवाना हुए।

माँ भी हम लोगों के साथ हमारे पीछे-पीछे घर के बाहर आयीं और हमारे आँख से ओझल हो आने तक अश्रुभरे नेत्रों से देखती रहीं। यह कैसा अद्‌भुत आकर्षण था ! मानो जन्म -जन्मान्तर का प्रेम हो – इस प्रेम की कोई सीमा नहीं, कोई तुलना नहीं। उनका मर्मस्पर्शी स्नेह और प्राणभरा आशीर्वाद ही मेरे सम्पूर्ण जीवन का पाथेय बना रहेगा।

रोगाक्रान्त माँ, अपने देहत्याग के कुछ समय पूर्व मानो जयरामबाटी से चिरविदा लेकर अन्तिम मात्रा के उद्देश्य से बागबाजार के उद्‌बोधन-भवन में आयीं। वहाँ शरत महाराज (स्वामी सारदानन्द) 'माँ के घर' के द्वारपाल के रूप में अपना परिचय देने में गर्व का अनुभव किया करते थे। उन्होंने माँ की चिकित्सा और सेवायत्न का सारा दायित्व स्वयं ग्रहण किया और सभी प्रकार से माँ की सेवा-सुश्रूषा के द्वारा उन्हें मर्त्यधाम में रखने की प्राणपण से चेष्टा करने लगे, परन्तु सबको दुख के सागर में निमग्न करती हुईं नित्यस्वरूपिणी माँ अपने स्व-स्वरूप में स्थित हुईं। शिष्यों तथा भक्तों के चिर आश्रय-स्थल माँ के दिव्य चरण-युगल स्थूल दृष्टि से सदा के लिये महाशून्य में विलीन हो गये। उनकी स्थूल मूर्ति के समक्ष 'माँ-माँ' की पुकार सुनना सदैव के लिए समाप्त हो गया। पृथ्वी पर शेष रह गया अविस्मरणीय अक्षय मधुमय स्मृति-निर्झर – जो कभी लुप्त नहीं होगा, जो सदैव रहा है – वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। इसीलिये माँ का और एक नाम 'महाकाली' है – काल जिनका नाश नहीं कर सकता। इसीलिये माँ ने नरदेह त्याग करने के पहले उपस्थित-अनुपस्थित और यहाँ तक कि जो भविष्य में धराधाम पर आयेंगे – उन सभी को हृदय से आशीर्वाद देकर इहलोक से विदा लिया। लगता है माँ को खोकर शरत् महाराज ही सर्वाधिक मर्माहत हुए थे, क्योंकि उनके ध्यान-ज्ञान-चिन्तन – सबका केन्द्रबिन्दु माँ ही थीं। अगले दिन सुबह माँ के शरीर को बेलूड़ मठ ले जाया गया। उस समय शरत् महाराज के रुक्ष केश तथा गम्भीर मूर्ति देखकर भय लग रहा था। वे थोड़ी दूरी पर खड़े होकर, शवदाह के पूर्व होनेवाले सारे आचार-विधियों के विषय में सूक्ष्ममति-सूक्ष्म निर्देश दे रहे थे। माँ को स्नान कराकर शुभ्र वस्त्र पहनाकर सर्वांग में श्वेत चन्दन लगाकर और पत्र-पुष्प-माल्य से खूब सुन्दर ढंग से सजाकर भक्ति भाव से आरती की गयी। दल-के-दल भक्तगण माँ की चरण-वन्दना कर रहे थे। दाह के बाद एक समय सीमा का उल्लघंन कर, जब भक्त-स्त्रियाँ माँ की पूत अस्थियों या भस्म को रखने हेतु प्राप्त करने की चेष्टा करती हुई धक्का-मुक्की कर रही थीं, तब अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस अनुशासनहीनता को देखकर शरत् महाराज नाराजगी के स्वर में बोल उठे, "इतने उत्साह के साथ ले जा रही हो, इसे यत्नपूर्वक रख सकोगी क्या?" यह सुनते ही कइयों ने घबराकर भस्मास्थि गंगाजी में प्रवाहित कर दी।... मातृगतप्राण शरत् महाराज की उस रौद्र मूर्ति को उस समय जिन लोगों ने भी देखा था, वे स्तम्भित रह गये थे।

माँ के लीला-संवरण के ग्यारह दिन बाद बेलूड़ मठ में विशेष महामिलन उत्सव हुआ और उस समय लगा कि माँ मानो सभी भक्तों के हृदय में सूक्ष्म रूप में विराज रही हैं। भरपेट प्रसाद-ग्रहण, भजन, पाठ तथा व्याख्यानों से भक्तों का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया और सबने अपने प्राणों के भीतर माँ के सान्निध्य का अनुभव किया था। ❑

❖ (क्रमश:) ❖

सम्राट् ययाति के अनुभव

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई। गत फरवरी अंक तक हम ७ कथाओं के अनुवाद प्रस्तुत कर चुके हैं। प्रस्तुत है उसी शृंखला की अगली कड़ी – सं.)

नहूषपुत्र ययाति ने अपने प्रिय छोटे पुत्र पुरु को राज्यभार सौंपा और तपस्या करने हेतु वन में गये। वहाँ वे वानप्रस्थ की अवस्था में रहकर धर्मशास्त्र के निर्देशानुसार जप-तप, व्रत-उपवास आदि का अनुष्ठान करने लगे। दृढ़ चित्त से मन तथा इन्द्रियों का दमन करके वे क्रमशः ईर्ष्या-द्वेष आदि वृत्तियों से मुक्त हो गये और ऋषि-मुनियों के सान्निध्य में अपना समय बिताने लगे। थोड़े दिनों के भीतर ही वे निष्पाप तथा निर्मल हो गये और अपने तप के प्रभाव से यथासमय स्वर्गलोक में निवास का अधिकार प्राप्त करके वहाँ जा पहुँचे।

काफी काल तक स्वर्गलोक में निवास तथा यथेच्छा भ्रमण आदि करते हुए परम आनन्द मनाते हुए अपने किये हुए पुण्यों का फलभोग करने लगे। एक दिन उनकी इन्द्र से भेंट हो जाने पर इन्द्र ने उनसे पूछा –

"हे राजन, पुरु को राज्य देते समय आपने उसे जो उपदेश दिये थे, उन्हें मैं सुनना चाहता हूँ। बताइये?"

ययाति – "हे इन्द्र, मैंने उसे कहा था कि गंगा और यमुना के बीच का जो प्रदेश है, आज से तुम उसके राजा हुए। तुम्हारे भाइयों के लिये मैंने अन्य प्रदेश निर्धारित कर दिये हैं। और उसके बाद कहा था, 'जान लो कि क्रोधी व्यक्ति की अपेक्षा अक्रोधी श्रेष्ठ है, क्षमाहीन की अपेक्षा क्षमाशील श्रेष्ठ है, पशु से मनुष्य श्रेष्ठ है, मूर्ख से विद्वान् श्रेष्ठ है। कोई निन्दा-अपमान करे या गाली दे, तो बदले में तुम भी उससे गाली-गलौज मत करना, क्योंकि क्रोध अपना ही अनिष्ट तथा पुण्यक्षय करता है। कभी कटु वाक्य मत बोलना। किसी को भी पीड़ा मत देना – उद्वेगकारी वचन मत कहना। किसी के हृदय को तीक्ष्ण शब्दवाणों से मत भेदना। सत्पुरुषों के चरित्र का अनुसरण करना। निन्दकों के निन्दा की उपेक्षा करना। आर्यनीति का पालन करना। परमेश्वर की उपासना करना। सभी प्राणियों के प्रति दया करना, मनुष्यों के प्रति मैत्रीभाव रखना, परोपकार करना, मधुर बोलना और दान देना, पर किसी से कुछ माँगना मत।"

इन्द्र – "हे राजन, आपने शास्त्र-निर्दिष्ट समस्त कर्मों को सम्पन्न करने के बाद सर्वस्व त्याग दिया था और तपस्या करने वन में चले गये थे। क्या मैं जान सकता हूँ कि आप तपस्या के द्वारा किसकी बराबरी के हो गये हैं?"

ययाति – "हे इन्द्र, मनुष्य, देव, गन्धर्व या महर्षियों में से किसी ने भी मेरे समान तप नहीं किया।"

इन्द्र – "हे राजन, सबके तप के प्रभाव की बात बिना जाने ही ऐसा कहने से उन लोगों का अपमान हुआ, जो आपके समान या आपसे श्रेष्ठ हैं। आपका ऐसा करना अनुचित है, इससे आपका पुण्य क्षय हो गया है और आपका स्वर्गवास का समय पूरा हो गया है। आपका शीघ्र ही स्वर्ग से मर्त्यलोक में पतन होगा।"

ययाति – "हे देवराज, अपने से श्रेष्ठ तथा अपने समान धर्मवीरों का अपमान करने के फलस्वरूप यदि मेरे स्वर्गवास का अन्त हो गया हो, तो मेरी आन्तरिक इच्छा यह है कि मैं मर्त्यलोक में साधु पुरुषों के बीच में गिरूँ।"

इन्द्र – "ऐसा ही होगा और आप पुनः अपनी पहलेवाली प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेंगे।"

इसके बाद ययाति स्वर्ग से नीचे गिरने लगे। वे चार राजर्षियों के बीच में गिरे। उनमें से अष्टक नामक एक राजर्षि ने उन्हें गिरते देखकर पूछा – "हे तेजस्वी पुरुष, आप कौन हैं? ऊपर आकाश से नीचे क्यों गिर रहे हैं? आप निर्भय होकर शीघ्र बताइये।"

ययाति – "मैं नहूषपुत्र और पुरु का पिता ययाति हूँ। सम्माननीय लोगों का अपमान करने के कारण अपने पुण्यों का क्षय हो जाने के कारण स्वर्ग से नीचे गिर रहा हूँ। मैं आप लोगों से आयु में काफी बड़ा हूँ, इसलिये आप लोगों को प्रणाम नहीं कर रहा हूँ। जो विद्या, तप या आयु में बड़ा हो, उसे पूजनीय माना जाता है।"

अष्टक – "यह सत्य है कि जो आयु में बड़े हैं, वे प्रणम्य हैं, परन्तु द्विजों में तो – जो ज्ञान तथा तपोबल में श्रेष्ठ हो, वे ही सबके प्रणम्य तथा सम्माननीय माने जाते हैं। केवल आयु में ही बड़ा होने से कोई श्रेष्ठता नहीं प्राप्त कर लेता।"

ययाति – "सत्य है, गर्व ही सारे पुण्यकर्मों के फल का नाश करता है। दम्भ का त्याग करके सत्कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। यही उचित भाव है, क्योंकि यही सत्कर्मों के पुण्यों की रक्षा करता है, पर अहंकार उसका नाश करता है।

"मुझे ही देखो न, इस अहंकार ने ही मेरे अति कष्टपूर्वक

अर्जित सारे पुण्यों का सहसा नाश कर दिया और मेरा स्वर्ग से इस प्रकार पतन हो गया।

''सत्कर्म या दान करके उसका अभिमान न करना, विद्वान् होकर भी विद्या का अभिमान न रखना अर्थात् विनयी होना और तपस्या का अनुष्ठान करके भी उसके लिये गर्व न करना – यही बुद्धिमत्ता का कार्य है। क्योंकि निरहंकारिता ही इन सबके फलों की रक्षा करती रहती है। इन विषयों में अहंकार ने ही मुझे स्वर्ग से नीचे गिराया है। मेरी यह अवस्था तुम्हारे लिये शिक्षाप्रद हो।

''वैसे मुझे इस पतन का कोई खेद नहीं है, क्योंकि उत्थान-पतन और सुख-दुःख तो जीवन में लगे ही रहते हैं। इसके लिये धीर तथा ज्ञानी लोग विचलित या शोकग्रस्त नहीं होते। वे लोग समभाव का अवलम्बन करके, प्राप्त परिस्थितियों के बीच रहकर अपने कल्याण हेतु प्रयास करते रहते हैं।

''देखो, एक गरीब आदमी से कोई भी प्रेम नहीं करता। मित्र-सम्बन्धी आदि अपने लोगों सहित – सभी लोग निर्धन व्यक्ति का त्याग कर देते हैं। यह जैसा पृथ्वी पर सत्य है, वैसा ही स्वर्ग आदि लोकों में भी सत्य है। पुण्यरूपी धन का क्षय होते ही वे लोग अपने सारे सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और अपने लोक में रहने नहीं देते।''

अष्टक – ''हे तात, मुझे यह बताइये कि किन कर्मों का अनुष्ठान करने से अथवा किस विद्या के बल से मनुष्य उत्तम लोकों को प्राप्त होता है?

ययाति – ''तप, दान, इन्द्रिय-निग्रह, सरलता, शान्ति, सभी प्राणियों के प्रति दया, कुकर्म से लज्जा और सत्कार्यों में प्रवृत्ति आदि मनुष्य को उत्तम लोकों के अधिकारी बना देते हैं। परन्तु यदि इन्हीं तप आदि के लिये अभिमान हो, तो वह निष्फल होकर पतन का कारण बनता है।

''जैसे यदि कोई विद्वान् अपनी विद्वत्ता का अभिमान रखता है और अन्य विद्वानों द्वारा प्राप्त यश के प्रति ईर्ष्या-भाव रखता है, तो उसकी विद्या निष्फल हो जाती है। इसी प्रकार अन्य सभी विषयों को भी समझना। इसीलिये अभिमान तथा ईर्ष्या का यत्नपूर्वक त्याग करना। 'मैं दाता हूँ', 'मैंने इतने यज्ञ किये हैं' आदि अभिमान अत्यन्त भय के कारण हुआ करते हैं। इसलिये इस तरह के अभिमान नहीं करना चाहिये। इन सब कार्यों को अहंकार-अभिमान से रहित हृदय से करने पर कल्याण की प्राप्ति होती है।''

अष्टक – ''यह बताइये कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास – इन चार आश्रमों में धर्म का किस प्रकार पालन करने से कल्याण की प्राप्ति होती है?

ययाति – ''विद्यार्थी ब्रह्मचारी का कर्तव्य है – आचार्य के बुलाने पर अविलम्ब उनके पास पाठ के लिये उपस्थित होना और जब तक आदेश हो, पाठ करते रहना। उनके आदेश के अनुसार कार्य करना और प्रत्येक कार्य खूब सावधानीपूर्वक करना, उनके समक्ष नम्र तथा संयत भाव से व्यवहार करना, उनके निर्देशानुसार शयन-गमन आदि करना, धैर्यवान होना, आलस्य-प्रमाद आदि का त्याग करना और इन्द्रियों को संयत रखते हुए विद्यालाभ में तत्पर रहना। मैंने संक्षेप में तुम्हें विद्यार्थी ब्रह्मचारी का धर्म बताया। इसका यथारीति पालन करने से कल्याण की प्राप्ति होती है।

''गृहस्थ – धर्मशास्त्र के निर्देशानुसार चलते हुए सारे कार्य सम्पन्न करेगा; उचित उपायों से अर्जित धन के द्वारा यज्ञ, दान, अतिथिसेवा आदि करेगा; कुछ दिये बिना किसी से कुछ ग्रहण नहीं करेगा अर्थात् दान नहीं लेगा; स्वयं उपार्जन करके गृहस्थ-धर्म का पालन करेगा और आश्रितों की रक्षा करेगा। मैंने तुम्हें साधारण रूप से उस गृहस्थ-धर्म के विषय में बताया, जिससे कल्याण की प्राप्ति हुआ करती है।

''वानप्रस्थी – वन या अरण्य में रहेगा और अपने प्रयत्न से जीविका-निर्वाह करेगा, आहार-विहार नियमानुसार करेगा, किसी का अनिष्ट नहीं करेगा, किसी को कष्ट नहीं देगा, इन्द्रियों की प्रवृत्ति को संयत रखेगा, मितभाषी होगा, पापकर्मों के विचार तक को प्रश्रय नहीं देगा और निरन्तर स्वधर्म में स्थित रहेगा। मैंने तुम्हें संक्षेप में वानप्रस्थ-धर्म के विषय में कहा, जिसका पालन करने से कल्याण की प्राप्ति होती है।

''अब संसार-त्यागी संन्यासी का धर्म संक्षेप में कहता हूँ, सुनो – वह यथाप्राप्त भोजन के द्वारा शरीर-निर्वाह करेगा। अन्न आदि किसी भी पदार्थ का संचय नहीं करेगा। इन्द्रिय-वृत्तियों को अपने वश में रखकर यथेच्छा विचरण करेगा, अपने वंश का परिचय नहीं देगा और देहरक्षा के लिये जिन अल्प वस्तुओं की जरूरत हो, उससे अधिक कदापि नहीं रखेगा। संन्यासी सदा एकाकी, संयतचित्त तथा सर्वप्रकार की कामनाओं से रहित होकर एकान्तसेवी होगा। वह निरन्तर ब्रह्मात्म-भाव में स्थित रहते हुए – प्रारब्ध क्षय न होने तक सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के प्रति समान-बुद्धि रखेगा और देहपात होने तक हर प्रकार से मोहशून्य तथा निष्पाप जीवन बितायेगा। ऐसा संन्यासी अपने कुल का महा कल्याण करता है।''

अष्टक – ''यथार्थ ज्ञानी मुनि कौन है?''

ययाति – ''वन अथवा लोक-समाज में – सर्वत्र जिनकी ब्रह्मदृष्टि सभी अवस्थाओं में समान रूप से बनी रहती है, उन्हीं को पूर्ण ज्ञानी समझना। वे सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से विमुक्त होकर सर्वभूतों में आत्मदृष्टि रखते हैं और अपने जीवन-काल में ही मुक्ति का अनुभव करते हैं।''

अष्टक – ''योगी और ज्ञानी – इन दोनों में से पहले किसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है?''

ययाति – "गृहस्थ-योगी – जो ध्यान, धारणा तथा समाधि आदि के अभ्यास द्वारा ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं, परन्तु पूर्वोक्त ज्ञानी सर्वत्र ब्रह्मभाव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

"ज्ञानी को – श्रुति तथा युक्ति के द्वारा शीघ्र ही जगत् के मिथ्यात्व का बोध हो जाने से, उनके लिये निर्विकल्प समाधि के मार्ग से ब्रह्मात्म-ऐक्य अनुभव सहज हो जाता है, परन्तु गृहस्थ-योगी को द्वैतभाव भुलाने के लिये विशेष चेष्टा करनी पड़ती है – काफी अभ्यास करना पड़ता है। इसीलिये उसे यह अनुभव प्राप्त करने में विलम्ब होता है। तथापि निष्काम भाव से धर्माचरण करना ही योगसिद्धि तथा ज्ञानप्राप्ति – दोनों का मूल है।"

अष्टक – "हे तात, मेरे धर्मपालन के फलस्वरूप स्वर्ग में मेरे लिये जो भोगों आदि की सृष्टि हुई है, उन्हें मैं आपको देता हूँ। हे धर्मज्ञ, आप पृथ्वी पर मत पड़िये।"

ययाति – "हे राजर्षि, मेरे जैसा व्यक्ति दान लेना नहीं जानता। तुम्हीं बताओ – जिसे मैंने पहले कभी दान नहीं किया, उससे मैं अब भला कैसे दान ग्रहण करूँ? मैं तो पुन: कर्मभूमि में रहकर सत्कर्मों का अनुष्ठान करना चाहता हूँ। मैं तुम्हारा दान स्वीकार नहीं कर सकता।"

इसके बाद अष्टक के समान ही दूसरे राजर्षि प्रतर्दन ने अपने धर्मकार्यों का फल उन्हें देते हुए उनसे पृथ्वी पर न गिरने का अनुरोध किया।

ययाति – "एक राजा किसी दूसरे राजा से उसका पुण्य लेने की इच्छा न करे। यहाँ तक कि दुर्भाग्यवश विपत्ति में पड़ने पर भी वैसा निन्दनीय कार्य नहीं करेगा। राजा कभी दान नहीं लेता। मैं तो सत्कर्म करने का इच्छुक हूँ। मैं भला कैसे तुम्हारे पुण्यफल ले सकता हूँ?"

इसके बाद राजर्षि वसुमान ने उन्हें अपने द्वारा अर्जित धर्म का फल देते हुए कहा – "आप पृथ्वी पर मत गिरियेगा। यदि आपको दान लेने में आपत्ति हो, तो मुझे एक तिनका देकर वह सब खरीद लीजिये।"

ययाति – "मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी ऐसा झूठा क्रय-विक्रय किया हो। कोई राजा ऐसा कार्य नहीं करता।"

वसुमान – "अच्छी बात है। मैं तो प्रसन्न मन से ही यह सब दे रहा हूँ। आप इन्हें ग्रहण कर उत्तम लोकों में जायँ।"

इसके बाद राजा शिबि ने कहा – "धर्मत: मैं जिन पुण्य-लोकों का अधिकारी हुआ हूँ, वह सब मैं आपको देता हूँ। आप धरती पर पतित मत होइये।"

ययाति – "मैं दूसरों का वैभव-दान लेने में असमर्थ हूँ। मैं तुम्हारी बातों को स्वीकार नहीं कर सकूँगा।"

अष्टक – "हे राजन, यदि आप हम अलग-अलग लोगों द्वारा अर्जित धर्मफल लेने को तैयार न हों, तो हम सभी एक साथ मिलकर हमारा जो कुछ भी है, वह सब आपको देते हैं। आप उन्हें ग्रहण करके उत्तम लोकों में गमन करें। अब आपको यहाँ लौटने की आवश्यकता नहीं है।"

ययाति – "जो कार्य पहले कभी नहीं किया, उसे मैं आज नहीं करना चाहता – तुम लोगों का यह सम्मिलित दान भी मैं ग्रहण नहीं कर सकूँगा।"

उसी समय आकाश-मार्ग से पाँच सोने के रथ उतर आये और ययाति, अष्टक, प्रतर्दन, वसुमान और शिबि – सभी अपने-अपने रथ में बैठकर स्वर्गलोक में चले गये।

❑ ❑ ❑

सरस्वती-वन्दना

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मेरी वाणी को मधु स्वर दो
वीणावादिनि माँ !
मेरी मति को उज्जवल कर दो
वीणावादिनि माँ !

काट जटिल जड़तामय बन्धन,
कर दो जीवन-वन को नन्दन,
हृदय-सिन्धु को रस से भर दो
वीणावादिनि माँ !

सदा सुपथ पर पद हों गतिमय,
रहूँ लोक में निशिदिन निर्भय,
मेरे शिर पर निज कर धर दो
वीणावादिनि माँ !

सत्य-धर्म-व्रत में हो तत्पर,
मानवता-हित करूँ निरन्तर,
पुण्य प्रेम का अक्षय वर दो
वीणावादिनि माँ !

जिससे ज्योति जगे जन-मन में,
जिससे मंगल हो जीवन में,
ऐसी सृजन-शक्ति भास्वर दो
वीणावादिनि माँ !

मेरी वाणी को मधु स्वर दो,
वीणावादिनि माँ!
मेरी मति को उज्जवल कर दो
वीणावादिनि माँ !

स्वामीजी का गाजीपुर-प्रवास (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

गंगाधर (अखण्डानन्दजी) का पत्र

तिब्बत-विषयक स्वामीजी को अपने अगले पत्र में (मार्च, १८९०) गंगाधर (स्वामी अखण्डानन्द) लिखते हैं –

परम पूजनीय – श्रीचरणों में हजारों हजार प्रणाम –

मेरा परम सौभाग्य है कि आप इस दास को भूले नहीं हैं। मैं बड़ा ही भाग्यवान हूँ। संध्या के समय आपका पत्र पाकर सारी बातों से अवगत हुआ। परन्तु मैं नहीं समझ पाता कि क्यों किसी-किसी ग्रन्थ में तिब्बत को त्रिविष्टप कहकर उल्लेख किया गया है। सुना है कि आर्यों का आदि निवास यहीं था। तिब्बत जाकर भी मैं जो कुछ जान सका हूँ, आप बिना गये ही उससे अधिक जानते हैं। आप सब जानते हैं, सच कहता हूँ। जो कुछ देखा है, दास शीघ्र ही आपके चरणों में पहुँचकर सब सुनाएगा। क्षमा कीजियेगा। ज्यादा विलम्ब नहीं करूँगा। आप कहाँ रहते हैं, दया करके इसकी सूचना दीजियेगा। और यदि इस दास को अपने साथ ले जायँ, तो अपनी आँखों से देखेंगे। जार्ज बोग्ली ने अपने ग्रेट तिब्बत ग्रन्थ में तिब्बत के विषय में सारी बातें खोलकर लिखी हैं – यह पुस्तक मैंने लद्दाख में देखी थी। आपके चरणों में पहुँचकर सब सुनाऊँगा।

तिब्बत के अधिकांश पर्वतों में सचमुच ही – गृहस्थ लोग पशुओं के समान रहते हैं। मठ बड़े-बड़े हैं, बहुत-कुछ अच्छे हैं। कमोबेश प्राचीन बौद्धों के नियम चलते हैं। अन्न की पैदावार अति अल्प या नहीं के बराबर होती है। बदरीनाथ के बाद स्थान विशेष ऊँचे हैं। बीच का स्थान ... लद्दाख, लासा नीचे हैं। वर्षाकाल में ठण्ड का कष्ट अधिक नहीं रहता।

श्री गुरुदेव जो करें। मैं क्या समझता हूँ! वहाँ के गृहस्थ सचमुच ही कुछ नहीं छोड़ते। मैंने यह देखा है। वहाँ लासा में एक-एक मठ (दुलतो दुलग्या) में डाबा, लामा, जावा आदि अनेक प्रकार के ७७०० भिक्षु रहते हैं। विशेष कुछ नहीं कह सकता। जो देखा है, उनमें से बहुतांश डाबा – प्रवर्तक के समान थे। लामा काफी अधिक उन्नत होते हैं। लामाओं की संख्या कम है। कुछ कह नहीं सकता। जाने से ही होगा – ज्यादा कठिन नहीं है। ...

आजकल यहाँ खूब वर्षा होने के कारण बड़ी ठण्ड पड़ रही है। निकट है, सब निकट है। यदि गुरुदेव की, यदि आपकी दया हो, तो सब निकट है, दूर कहाँ है? बहुत दिनों के बाद प्रमदादास बाबू का एक पत्र मिला। आपको भेज रहा हूँ, आप देखिये। अब शीघ्र ही रवाना हो रहा हूँ।

ऋषीकेश से धीरे-धीरे ऊपर की ओर वह विवरण यथार्थ ही है – स्थान है बदरिकाश्रम, हिमालय में सर्वोत्कृष्ट – पवित्र गंगा – भागीरथी-गंगोत्री ...। तिब्बत ठीक बदरीनाथ के बाद ही है। तिब्बत का मैंने अल्प भाग ही देखा है – लद्दाख की ओर लासा का कुछ भाग। सब तिब्बत के समान है। परन्तु कैलास के समान नहीं। यह सब आप जानते हैं। मैं यह अल्प काल केवल बदरिकाश्रम में ही था – तीन वर्षों में छह महीने, इससे अधिक नहीं होगा। और क्या लिखूँ। प्रणाम।

तिब्बत जाने पर अति सुन्दर भाव देखेंगे, सचमुच देखेंगे। मैंने जो कुछ देखा है, आपके चरणों में पहुँचकर कहूँगा। क्षमा कीजियेगा। कहाँ रहते हैं, बताइयेगा, ताकि पता चल सके। विशेष क्या लिखूँ। निवेदनम् इति। सचमुच ही तिब्बत साधुओं का विशेष सम्मान करना जानता है। कृपा रखियेगा।

क्वचिन् मूढो विद्वान् क्वचिदसि महाराज-विभवः
क्वचित् भ्रान्तः सौम्यः क्वचित् अजगर चलितः
क्वचित् पात्रीभूतः ...

यह सभी आपकी कृपा है। जो भी मिले, दास का प्रणाम दीजियेगा। आशीर्वाद-दया – दास। तिब्बत के मठों में यदि कोई डाबा नियमों का उल्लंघन करता है, तो उसे विशेष दण्ड के साथ तत्काल मठ से बाहर कर दिया जाता है।

मैंने ऐसा बहुत देखा है। पर अब भी लामा (जो भ्रष्ट नहीं हैं) उनमें से काफी उन्नत हैं। और राजा तो वे ही लोग हैं।

तिब्बत में जो कुछ है, मठों में, मन्दिरों में है। मठों मन्दिरों में ही तिब्बत का सब कुछ है। क्या धूप-दीप ही मैंने देखे हैं।

श्री प्रमदाबाबू का पत्र आपको बिना दिखाये नहीं रह सका। सचमुच ही आपकी कृपा है। –

प्रशान्त संन्यासी तुम बाल-ब्रह्मचारी,
विमल-मानस सदा दास को आशीष,
प्राण के भीतर रखूँ प्राणनाथ शिव को,
पूजूँ सदा पादपद्म, प्राणपुष्प देकर ।।

मनोबुद्धि चित्त अहंकार देकर उन्हीं को
स्वयं को भी उन्हें देकर, और क्या बचेगा?
कहता 'मैं'-'मैं' जिसे, वह तो नहीं 'मैं',
चिदानन्दमय शिव हूँ मैं, साक्षात् शिवोऽहम् ।।

बालयोगी गंगाधर कैलास-विहारी
मेरे जीवन-प्राण, छिपे मेरे ही हृदय में
अपने ही हृदय से, मिलाऊँ हृदय को
यदि मिले प्राणप्रिय मेरा - आदि शुद्ध बुद्ध मुक्त ।।

आपने जो लिखा है, वह निष्कर्ष खूब सत्य है; हम लोग जिसे नीति के रूप में जानते हैं, वे लोग साधारणतः उसे नहीं

जानते। एक तो देश-काल की दृष्टि से उनका बहुत भिन्न आचार-व्यवहार है, मठ का खूब कठोर अनुशासन है – इसे त्रिनीटी कहिये या कुछ और – लामा अपने 'कुत एव एक कुञ्झोक चुजँ सुम'। ज्ञान की कोई बात नहीं कह सकते।

किसी साधु को अंग्रेजों संसर्ग से रहित जानने पर खूब भक्ति करते हैं। तब वहाँ बैठने को स्थान मिलता है। शीतप्रधान देश होने के कारण हर दृष्टि से अनुकूल है। (परन्तु) तिब्बत के ठण्ड के मौसम में बिलकुल नहीं। कैलास पर्वत से लासा तीन महीने लगते हैं। यहाँ से पूर्व की ओर, काफी नीचे है। आचार-व्यवहार सब एक जैसा है। मानसरोवर-कैलास की ओर आबादी काफी कम है। नेपाल से सुविधा है। योगी क्या करते हैं, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आपके प्रति असंख्य प्रणाम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानता। एक बार श्रीचरण दर्शन करूँगा। निवेदनम् इति।

तिब्बत के पश्चिम ... से लामा लोग केवल यह वाक्य बोलते हैं, 'दाग चला तोम्बा शाक्य थुबा सेम जेंन आम जेला अक चि: जिक छिम्' – 'मेरे इष्ट शाक्यमुनि हैं, बुद्धदेव – और मेरा Everything for others (सब कुछ दूसरों के लिए)। परन्तु ईश्वर को कोई भूला नहीं है। माई लोग पोथी पढ़ना नहीं जानतीं, परन्तु कण्ठस्थ रखकर पाठ करती हैं।

इस देश का प्रधान मंत्र है 'ॐ मणिपद्मे हुँ' तथा 'ॐ बाजार गुरु पांसा सि दि हूँ'। 'ॐ मणिपद्मे हुँ' मंत्र ही सबसे प्रधान है। तिब्बत में स्तूपों के समान ही इसकी तो कोई बात ही नहीं। फिर रास्तों में बड़े-बड़े टीलों के समान हैं, जिनके ऊपर पत्थरों पर ऐसे अनेक मंत्र लिखे हुए हैं। जहाँ वे रखे हुए हैं, उनका बड़ा माहात्म्य है। वे सब बातें क्या लिखूँ। एक किसी धातु का डिब्बा जैसा होता है, जिसमें 'ॐ' नाम लिखा हुआ भरकर, उसे चारों ओर से बन्द करके, एक हैंडल है – उसे पकड़कर घुमाते हैं; वहाँ खूब प्रचलित है, सभी प्रकार के लोगों के पास रहता है – इसी को मणि कहते हैं। एक मेरे पास है। इस बार मैंने क्या क्या लिख दिया। शीघ्र लिखियेगा कि कैसे हैं। यह पत्र बड़ा हो गया। क्रमश: निवेदन है।

सभी प्रकार से आज्ञाकारी दासानुदास
गंगाधर[३४]

To Venerable Narendranath
C/o Satish chandra Mukherjee
Gorabazar, Gazipur

स्वामीजी मार्च (१८९०) में ही गंगाधर (अखण्डानन्दजी) के नाम अपने २१वें पत्र में लिखते हैं –

प्राणाधिकेषु, अभी अभी तुम्हारा एक पत्र मिला, लेखन अस्पष्ट होने के कारण समझने में बड़ी कठिनाई हुई। पहले के पत्र में ही मैं सब कुछ लिख चुका हूँ। पत्र देखते ही तुम चले आना। नेपाल होकर तिब्बत जाने के मार्ग के बारे में तुमने जो लिखा है, उसे मैं जानता हूँ। जैसे किसी को आसानी से तिब्बत में नहीं जाने दिया जाता है, वैसे ही नेपाल में भी राजधानी काठमाण्डू तथा दो-एक तीर्थों को छोड़कर किसी को अन्यत्र कहीं जाने नहीं दिया जाता। किन्तु मेरा एक मित्र इन दिनों नेपाल के राजा और राजकीय विद्यालय का शिक्षक है। उससे पता चला है कि प्रतिवर्ष जब नेपाल से चीन को राजकर भेजा जाता है, तब वह लासा होकर जाता है। एक साधु विशेष व्यवस्था करके उसी तरह लासा, चीन तथा मंचुरिया (उत्तरी चीन) में तारादेवी के पीठ तक गये थे। मेरे इस मित्र के प्रयास करने पर हम लोग भी मर्यादा तथा सम्मान के साथ तिब्बत, लासा तथा चीन आदि सब देख सकेंगे। अत: तुम तत्काल गाजीपुर चले आओ। यहाँ कुछ दिन बाबाजी के पास रहने के बाद, उस मित्र से पत्र-व्यवहार करके हम अवश्य ही नेपाल होकर तिब्बत जाएँगे। अधिक क्या लिखूँ ! दिलदारनगर स्टेशन पर उतरकर गाजीपुर आना पड़ता है। दिलदारनगर मुगलसराय स्टेशन से तीन-चार स्टेशन बाद ही पड़ता है। यदि तुम्हारे यहाँ आने के लिये किराया जुटा पाना सम्भव होता, तो मैं अवश्य भेजता; अत: तुम स्वयं ही व्यवस्था करके चले आना। गगनबाबू – जिनके आश्रय में मैं यहाँ हूँ – इतने सज्जन, उदार तथा हृदयवान हैं कि क्या लिखूँ ! काली को ज्वर हो गया है – सुनकर तुरन्त ही उन्होंने ऋषीकेश में उसके लिए किराया भेज दिया तथा मेरे लिए भी उन्होंने काफी खर्च किया है। ऐसी दशा में काश्मीर के किराये के लिए पुन: उन पर बोझ डालना संन्यासी का धर्म नहीं है, यह सोचकर मैं विरत हो गया हूँ। तुम पत्र देखते ही किराया जुटाकर चले आना। अमरनाथ-दर्शन का आग्रह अभी स्थगित रखना ही ठीक होगा। इति। – नरेन्द्र[३५]

उपरोक्त पत्र के उत्तर में श्रीनगर से अपने अगले पत्र में अखण्डानन्दजी ने स्वामीजी को लिखा –

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

श्रीचरणों में हजारों हजार प्रणाम –

पूजनीय, आज आपका एक और पत्र पाकर सारे समाचारों से अवगत हुआ। मेरा पहला पत्र बैरंग और अस्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ था। इसीलिये उसके बाद मैंने दो पोस्टकार्ड लिखे थे। कल एक कार्ड भेजा है। पहले पत्र से आपके कमर के दर्द की बात जानकर मैं बड़ा दुखी हूँ। कैसे हैं, लिखियेगा। काश्मीर से शीघ्र ही रवाना हो रहा हूँ – मौसम सुधरते ही यात्रा करूँगा। आजकल यहाँ खूब वर्षा होने के कारण कहीं भी जाने की सुविधा नहीं है। रावलपिंडी होकर

३४. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, १९९७, पृ. ४६-४९

३५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३६७-६८

जाना होगा। रावलपिंडी पहुँच जाने पर फिर देर न होगी, अविलम्ब पहुँच जाऊँगा। दास को पहुँचने में विलम्ब हुआ, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। मैं अमरनाथ का दर्शन करने के लिये नहीं ठहरूँगा। काली इस समय कहाँ हैं? पहले मैंने भाड़ा भेजने के लिये लिखा था, उसकी कोई जरूरत नहीं, यहाँ हमारे सत्कार के लिये बहुत-से लोग हैं। विशेषकर नीलाम्बर बाबू के भाई ऋषीवर बाबू हर तरह का व्यय करने को तैयार हैं। भिक्षा सर्वदा ही देते रहते हैं। यहाँ तक कि हम लोगों में यदि कोई यहाँ आना चाहे, तो तत्काल ही खर्च भेजा जा सकता है। गाजीपुर में आजकल गर्मी कैसी है? यहाँ आजकल मौसम ठीक नहीं है, इसलिये पत्र पढ़कर आ नहीं सका। इसके लिये क्षमा कीजियेगा।

तिब्बत के लिये कोई चिन्ता नहीं है – जाना हुआ, तो होगा; नहीं हुआ, तो नहीं होगा। उसके लिये विशेष आग्रह नहीं है, सिरदर्द नहीं है। कुछ दिन शीतप्रधान सुगम सुभिक्ष पहाड़ में जाकर रहने से आपके स्वास्थ्य में सुधार होगा। आप जानते ही हैं कि ग्रीष्मप्रधान अंचल स्वास्थ्य के लिये उतना अच्छा नहीं होता। भेंट होने पर विशेष बातें कहूँगा।

बहुत दिनों से वराहनगर (मठ) का कोई समाचार नहीं मिला। वहाँ सभी लोग कैसे हैं? ... तिब्बत के जिस प्रदेश में मैं गया था, वहाँ स्वाधीन भाव से विचरण करने में अनेक बाधाएँ हैं। परन्तु एक स्थान पर बैठ जाने पर दूसरी बात है। वह भी भिक्षा संचय किये बिना बैठने पर नहीं टिका जा सकता। पवहारी बाबा को मेरे असंख्य प्रणाम दीजियेगा। आपका पत्र मिलने से मुझे परम सुख होता है, पढ़ने से शिक्षा मिलती है।

आपका यह पत्र पाने के बाद अब विलम्ब नहीं करूँगा। शीघ्र ही रवाना हो रहा हूँ – पंजाब होकर आने से मार्ग में विलम्ब होगा, नहीं तो विलम्ब का दूसरा कोई कारण नहीं है। अत: मैं सीधे आपके चरणों में पहुँचूँगा। और कोई बाधा नहीं। केवल आपके चरणों में पहुँचूँगा। उसके बाद आप जैसा कहेंगे – वही करूँगा। तिब्बत का जो कुछ मेरे पास है, उसे क्या मैं अपने साथ ले आऊँ?

यहाँ पर जितने भी हिन्दू हैं, ये काश्मीरी लोग बड़े शाक्त हैं। सारिकापीठ तथा क्षीरभवानी में देवी के प्रसिद्ध स्थानों में उपासना करने जाते हैं। कितने मधुर कण्ठ से देवी के गीत गाते हैं! सारिकापीठ शहर के पास है। आजकल वहाँ ऐसी ही धूम मची हुई है। इन कश्मीरियों के अनेक भाव बंगालियों के समान हैं, संस्कृत उच्चारण भी मिलते-जुलते हैं। यह सब आप जानते हैं, तो भी थोड़ा-सा लिख रहा हूँ। जब तक मैं आपके चरणों में पहुँच नहीं पाता, तब तक आपके चरणों में इसी प्रकार नमस्कार करूँगा। प्रणाम के सिवाय एक भी पत्र नहीं लिख सकता। मेरी विद्या तो आप जानते ही हैं। इस पत्र के पहले सुना है – आप अभी कुछ दिन गाजीपुर में रहेंगे – आराम करेंगे।

दास शीघ्र ही चरणों में पहुँचेगा – अब आपके चरणों के अतिरिक्त कहीं भी जाने की इच्छा नहीं है। थोड़े-बहुत विलम्ब के लिये क्षमा कीजियेगा। किसी के साथ रावलपिंडी तक जाना होगा। काश्मीर जलमय स्थान है – गाड़ियाँ नहीं चलती। आपके चरणों में मेरे असंख्य प्रणाम। श्रीचरणों के दर्शन की इच्छा प्रबल है। सचमुच अविलम्ब पहुँचूँगा। कोई भी मुझे रोक नहीं सकेगा।

अमरनाथ का मेला केवल श्रावण माह की राखी-पूर्णिमा को होता है – बाकी दिन नहीं होता। यह निश्चित है कि मैं अमरनाथ के पहले श्री नरेन्द्रनाथ का दर्शन करूँगा।

यह मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि श्रीचरणों के दर्शन से अन्य किसी भी दर्शन की तुलना नहीं हो सकती। मन में इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं आता। यहाँ ५-७ बंगाली बाबू हैं – आप लोगों की भक्ति करते हैं। सुना है कि गाजीपुर भी उत्तम स्थान है। गंगाजी हैं। रावलपिंडी से गंगातट पर पहुँचने में भला कितना समय लगेगा! रावलपिंडी पहुँचने में ही जितना विलम्ब हो! आपके पास आ रहा हूँ, यह बात आप किसी से भी मत कहियेगा।

काश्मीर की घाटी पूरी तौर से जलमय है। जगह-जगह विशाल सरोवर हैं और उनके चारों ओर की जमीन दलदल के समान है। यहाँ के लोग उसे गुल कहते हैं, उनके बीच में फिर दल – द्वीप के समान जमीन भी है, उस पर अनेक प्रकार की खेती होती है।

आपके श्रीचरण दर्शनाकांक्षी
दासानुदास गंगाधर

पुनश्च – प्रमदाबाबू के पत्र के उत्तर में कुछ लिख नहीं सकता! उनकी बात आप जानते हैं। मैंने जो कुछ लिखा है, इससे उनकी तृप्ति नहीं होगी। उन्होंने लिखा है कि आपके कमर की पीड़ा के कारण ऋषीकेश जाना नहीं हो सका। श्रीचरणों में हजारों-हजार प्रणाम। निवेदनम् इति –

दास गंगाधर

पत्र की प्रतीक्षा में हूँ।

To Sri Narendranath : – at Gazipur[३६]

१५ मार्च, १८९० को श्रीयुत बलराम बोस को लिखित स्वामीजी का २२वाँ पत्र इस प्रकार है –

पूज्यपाद, कल आपका कृपापत्र मिला। सुरेशबाबू की बीमारी बड़ी कठिन है, यह जानकर बड़ा दुखी हुआ। प्रारब्ध में जो लिखा है, वही होगा। आप भी बीमार हो गये हैं, यह दु:ख की बात है। जब तक अहंबुद्धि है, तब तक प्रयत्न में

३६. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ५०-५१

कोई भी त्रुटि होना – आलस्य, दोष तथा अपराध कहा जाता है। जिसमें वह अहंबुद्धि नहीं है, उसके लिए तितिक्षा ही अच्छा है। जीवात्मा की वासभूमि यह शरीर कर्म का साधन-स्वरूप है – जो इसे नरककुण्ड बनाते हैं, वे अपराधी हैं और जो इस शरीर की रक्षा में लापरवाही दिखाते हैं, वे भी दोषी हैं। परिस्थिति के अनुसार नि:संकोच कार्य करते जाइये।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतिक्षेत निर्देशं भृतको यथा।।

जो कुछ सम्भव हो, उसे करना चाहिये। न जीवन और न मृत्यु की ही कामना करते हुए सेवक की भाँति आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहना ही श्रेष्ठ धर्म है।

काशी में खूब इंफ्लुएंजा फैली हुई है – प्रमदा बाबू प्रयाग गये हुए हैं। बाबूराम अचानक ही यहाँ आ पहुँचा है। उसे बुखार हुआ है – ऐसी हालत में उसका बाहर निकलना ठीक नहीं हुआ। काली (अभेदानन्द) को १० रुपये भेजे गये हैं – वह सम्भवत: गाजीपुर होकर कलकत्ते जायेगा। मैं कल यहाँ से विदा हो रहा हूँ। काली आकर आप लोगों को पत्र लिखे, तो जो लगे, सो कीजियेगा। मैं चला। अब पत्र मत लिखियेगा, क्योंकि मैं यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ। बाबूराम ठीक हो जाने पर, जो इच्छा, करेगा।

फूलों को आपने रसीद पाते ही मँगवा लिया होगा। श्री माताजी को मेरे असंख्य प्रणाम कहियेगा।

आप लोग आशीर्वाद दीजिये कि मुझे समदृष्टि प्राप्त हो – जन्मजात बन्धन को छोड़ने के बाद फिर से माने हुए बन्धन में न फँसूँ। यदि कोई मंगलकर्ता हो और यदि उनमें सामर्थ्य एवं सुविधा हो, तो आप लोगों का परम मंगल हो, यही मेरी दिन-रात प्रार्थना है। अधिक क्या लिखूँ – दास, नरेन्द्र[३७]

१५ मार्च, १८९० को ही नाट्यकार गिरीशचन्द्र घोष के भाई अतुलचन्द्र घोष को लिखा हुआ स्वामीजी का २३ वाँ पत्र इस प्रकार है – अतुलबाबू, आपकी मानसिक दशा खराब है, जानकर बड़ा दुखी हूँ – जिससे आनन्दपूर्वक रह सकें, वही कीजिये –

यावज्जननं तावन्मरणं,
तावज्जननीजठरे शयनम्।।
इति संसारे स्फुटतर-दोषः
कथमिह मानव तव सन्तोषः।।

दास नरेन्द्र

पुनश्च – मैं कल यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ – देखना है कि भाग्य कहाँ ले जाता है।[३८]

काश्मीर से ही २६ मार्च १८९० को अखण्डानन्दजी ने स्वामीजी को लिखा –

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

श्रीचरणों में हजारों हजार प्रणाम –

पूजनीय, कल आपका पत्र पाकर परम आनन्दित हुआ। प्रयाग से प्रमदाबाबू का एक पत्र मिला। आपकी पीठ का दर्द कैसा है, लिखियेगा। कृपा करके समाचार दीजियेगा। यहाँ खूब वर्षा हो रही है – इस कारण कहीं भी जाने की सुविधा नहीं है। जब तक आप पूरी तौर से नीरोग नहीं हो जाते, तब तक कहीं भी जाना युक्तिसंगत नहीं होगा। अत: एक जगह आराम करना ही आपका कर्तव्य है।

आपकी लिखी सारी बातें सत्य हैं। पवहारी बाबा को मेरे असंख्य प्रणाम। क्या वे मुझे दर्शन देंगे? आपको उनके कितने बार दर्शन हुए थे? केशव बाबू क्या उनसे मिल चुके हैं? गाजीपुर में आजकल गर्मी कैसी लग रही है – लिखने का कष्ट करेंगे – मौसम अच्छा होने पर रावलपिंडी होते हुए शीघ्र ही आऊँगा। परन्तु महाराज, शरीर के लिये सुगम शीत-प्रदान देश ही अच्छा प्रतीत होता है। मैं आपके सभी पत्र प्रतिदिन पढ़ता हूँ। बड़ा सुख मिलता है। बौद्ध धर्म की जिस Phase अवस्था (काल) के विषय में आपने लिखने को कहा है, वह थोड़ा लिखियेगा। ये सब बातें आप ही जानते हैं। निवेदनम् इति।

श्रीचरण दर्शनाकांक्षी दासानुदास
गंगाधर[३९]

❖ (क्रमशः) ❖

३७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३६९-७०; और बँगला पत्रावली, पृ. ३८-३९

३८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७०

३९. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ४९

स्वामी परमानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

रात काफी हो चुकी थी। चौकीदार हाथ में लालटेन लिये मार्ग में हाँक देता फिर रहा था। सबकी आँखों में निद्रा थी, परन्तु एक चंचल बालक उस समय भी जगा हुआ था। उसने माँ से कह रखा था, "माँ, जब चौकीदार आवाज देगा, तब तुम मुझे जगा देना।" पूरे गाँव की नींद को भगाने वाली वह ऊँची पुकार सुनना उसे बड़ा अच्छा लगता था – इसीलिये वह हर रोज प्रतीक्षा करता कि कब रात गहरायेगी और कब वह लालटेन वाला आदमी आकर जोर की आवाज में सबको होशियार करेगा। वह सोचता था कि चौकीदार कोई बहुत बड़ा आदमी होगा। बालक की आँखों में निद्रा कम थी – बड़े होने के बाद भी वह कम ही सोया था। उस चौकीदार की पुकार भी उसके लिये सदा प्रिय बनी रही। बड़े होने के बाद एक लालटेन-धारी चौकीदार की पुकार पर ही तो वह घर छोड़कर बाहर निकला था। वैसे यह चौकीदार उसके गाँव में फेरे नहीं लगाता था – उसके गुरु-गम्भीर आह्वान को सुनकर सम्पूर्ण विश्व के निद्रित लोग जाग उठे थे, उनकी सावधान-वाणी – चेतावनी से लोगों की आत्मचेतना लौट आयी थी। उसके हाथ में भी लालटेन थी, परन्तु उसमें विवेक की उज्ज्वल शिखा प्रज्वलित हो रही थी।

बालक का नाम था सुरेशचन्द्र। उनका जन्म बारीशाल जिले के बानरीपाड़ा गाँव के एक सम्भ्रान्त परिवार में अनुमानत: १८८४ ई. में हुआ था। उनके पिता आनन्दचन्द्र गुहठाकुरता स्वधर्मनिष्ठ तथा उदार व्यक्ति थे। सुरेशचन्द्र अपने माता-पिता की सबसे छोटी सन्तान होने के कारण सबके बड़े स्नेहपात्र थे। परन्तु केवल नौ वर्ष की आयु में वे अपनी माता को खो बैठे। इस मातृशोक ने अति अल्प आयु में ही उनमें संसार के मायापाश को छिन्न करने के लिये उपयोगी मानसिक दृढ़ता लाने में खूब सहायता की थी। इसीलिये संसार तरुण सुरेश को अधिक दिन पकड़कर नहीं रख सका, पर वह उसे स्वामी परमानन्द के नाम से एक अन्य रूप में प्राप्त हुआ।

सुरेशचन्द्र के घर में देवपूजा होती थी। पिता के धर्मानुराग तथा परहित-परायणता आदि गुण सुरेश में भी बचपन से ही संक्रमित हो गये थे। उसके पिता अपने गाँव में एक बालिका-विद्यालय की स्थापना और अन्य कई तरह के सामाजिक कार्यों में भी अग्रणी भूमिका निभाते थे। उनके परिवार ने कुछ काल कलकत्ते और बाद में ढाका में भी निवास किया था। सुरेशचन्द्र शैशव काल से ही अत्यन्त मेधावी था। परन्तु विद्यालय में निर्धारित पाठ्य विषयों में उसकी जरा भी रुचि नहीं थी। खेलकूद, व्यायाम और बालसुलभ चपलता एवं शैतानियों के बीच उसके दिन बीते जा रहे थे। पेड़ों पर चढ़ना, तैरना, फुटबाल खेलना, पतंग उड़ाना आदि में वह अपने मित्रों में प्रथम स्थान रखता था। एक बार फुटबाल खेलने के बाद घर लौटते समय रास्ते में एक जहरीला साँप देखकर अन्य बालक जब भय से चिल्ला रहे थे, उस समय सुरेश बड़े आनन्दपूर्वक उस जीवित साँप की पूँछ पकड़कर उसे घुमाने लगा और बाद में उसे पास के बगीचे में फेंक दिया। निर्भयता, विनम्रता, पौरुष तथा माधुर्य – ये चारों गुण उसके व्यक्तित्व में समान रूप से अभिव्यक्त हो रहे थे।

सुरेश अपने वृद्ध पिता को धर्मग्रन्थ आदि का पाठ करके सुनाया करता था। बालक का कण्ठ भी बड़ा मधुर था, इसीलिये प्रतिदिन शाम को भजन गाकर उन्हें सुनाना भी उसका दैनन्दिन कर्तव्य हो गया था। उसे अपने पिता को सुनाने के लिये 'श्रीरामकृष्ण उपदेश' नामक पुस्तक भी पढ़ना पड़ता था। उसमें दिये गये 'सूर्योदय के पूर्व निकाले गये मक्खन' के उदाहरण ने बालक सुरेश के मन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला था। प्रतिदिन पिता के पास बैठकर श्रीरामकृष्ण-विषयक बातों को पढ़ते-पढ़ते बालक के मन में जीवन के उद्देश्य के विषय में एक स्पष्ट धारणा बनने लगी। इन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द के एक संन्यासी शिष्य स्वामी नित्यानन्द के सम्पर्क ने भी बालक सुरेश के मन में इस जगत् के विषय में अनित्यता का बोध लाने में काफी सहायता की थी। एक स्वप्न की स्मृति ने भी उसे इन दिनों त्याग के पथ पर अग्रसर होने को प्रेरित किया था। जो भी हो, बालक सुरेश ने एक दिन अपने पिता से संसार त्यागने की अनुमति माँगी। वृद्ध पिता ने यह सुनते ही पहले तो उसे खूब डाँट-फटकार लगायी और बाद में समझा-बुझाकर उसके मन को संसार में लौटा लाने का प्रयास करने लगे। परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला। सम्भवत: नित्यानन्द जी से ही उसे बेलूड़ में बन रहे रामकृष्ण संघ के नये मुख्यालय के बारे में जानकारी मिली। उसका मन वहाँ की तीर्थयात्रा करने को व्याकुल हो उठा। परन्तु परिवार के लोगों ने यह कहकर विरोध किया कि इत्ता-सा बालक भला अकेले कैसे यात्रा कर सकेगा ! सौभाग्यवश

गाँव के कुछ प्रौढ़ लोग श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव देखने के लिये बेलूड़ मठ जाने की योजना बना रहे थे। सुरेश ने भी उन लोगों के साथ जाने की अनुमति माँगी। आखिरकार उसके पिता राजी हुए और सुरेश को भी उस टोली के साथ जाने की अनुमति दे दी।

तीर्थयात्री १९०१ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के दो दिन पूर्व बेलूड़ पहुँचे। मठ के परिसर में लोगों की काफी भीड़ थी और जन्मोत्सव की तैयारियाँ जोर-शोर से चल रही थीं। सुरेश विस्मय-विमुग्ध भाव से मठ के मुख्य भवन की ओर चल पड़ा और मठ के विस्तृत प्रांगण में जा पहुँचा।

वहाँ एक आम के पेड़ के नीचे स्वयं स्वामी विवेकानन्द ही लेटे हुए थे। वर्षों बाद सुरेश ने इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है, "मैंने स्वयं को एक ऐसे व्यक्ति के समक्ष पाया, जो तब तक मेरे देखे हुए या यहाँ तक कि अपनी स्पष्ट चेतना द्वारा कल्पित किसी भी व्यक्ति से बिल्कुल ही भिन्न था। उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी तेजस्वी आँखों से मेरी ओर देखा, जो नि:शब्द रहकर भी बहुत-कुछ कह रही थीं। मेरा अपने गुरुदेव के साथ कोई औपचारिक परिचय नहीं कराया गया, परन्तु मेरी आँखें ज्योंही उनकी तेजस्वी आध्यात्मिक दृष्टि से मिली, त्योंही एक ऐसी अनुभूति मेरे सिर से पाँव तक दौड़ गयी, जो सदा के लिये मेरे मन पर एक अमिट छाप छोड़ गयी।" एक चुम्बक से लौहखण्ड के समान आकृष्ट होकर सुरेश धीरे-धीरे पूज्यपाद स्वामीजी के पास जा पहुँचा और घुटनों के बल झुककर उनके चरण स्पर्श किये। स्वामीजी ने रुचिपूर्वक बालक की ओर देखा और सहानुभूतिपूर्ण स्वर में उसके जीवन के विषय में अनेक प्रश्न पूछने लगे।

स्वामीजी के भव्य व्यक्तित्व ने सुरेश को एक प्रबल तरंग के समान अभिभूत कर दिया। बाद के दिनों में उनका वर्णन करते हुए वह कहता, 'प्रेम तथा विवेक के जीवन्त अवतार'। उस पूरे दिन तथा आनेवाले दिनों में, जब कभी स्वामीजी दिखाई दे जाते, तो सुरेश उन्हीं के आसपास मँडराता रहता और उनके हर शब्द तथा मुद्रा पर ध्यान जमाये रहता। वर्षों बाद उसने पूछा था, "क्या तुमने कभी-कभी ऐसा चेहरा नहीं देखा, जो इतनी अलौकिक दिव्य सुन्दरता लिये हो कि तुम उससे अपनी आँखें हटाने में अक्षम हो जाते हो? यदि तुमने नहीं देखा, तो मैं तुम्हारे साथ तर्क नहीं करूँगा, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसी मुखभंगिमा देखी है।"

शीघ्र ही बानरीपाड़ा की उस टोली के वापस लौटने का दिन आ पहुँचा। दो सौ मील की इस यात्रा के दौरान स्वामीजी के नेत्रों की वह झलक सुरेश के मानस-पटल पर निरन्तर बनी रही।

गाँव लौटने के बाद सुरेश ने अपनी पुरानी दिनचर्या जारी रखने का प्रयास किया, परन्तु अब उसे सांसारिक जीवन की क्षुद्र बातों तथा निकृष्ट लक्ष्यों से घुटन महसूस होने लगी थी। अब उसके नेत्रों के सम्मुख स्वामीजी के रूप में मूर्तिमान आदर्श भासता रहता और वह सब कुछ त्यागकर उसी आदर्श पर चलने के लिये व्याकुल हो उठता।

सुरेश जानता था कि उसे संसार त्यागकर रामकृष्ण संघ में प्रवेश लेना है। एक दिन उसने अपनी बालसुलभ सरलता के साथ अपने पिता तथा भ्राता विभुचरण के समक्ष अपने इस निर्णय की घोषणा कर दी। उसने सोचा था कि सुनकर वे लोग प्रसन्न होंगे, परन्तु उसकी जगह वे लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे और दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करने लगे। पहले तो उन लोगों ने उसे समझा-बुझाकर और डाँट-डपटकर रास्ते पर लाने का प्रयास किया, परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला। आखिरकार हारकर उन लोगों ने उस पर निगाह रखना शुरू कर दिया, ताकि कहीं वह छिपकर न निकल जाय।

एक रात उसकी रखवाली के लिये नियुक्त नौकर को नींद आ गयी। सुरेश ने केवल विभुचरण की पत्नी को ही अपने आन्तरिक भावों से अवगत करा रखा था। उसने द्वार खोल दिये और सुरेश घर छोड़कर धीरे-से बाहर निकल पड़ा।

मठ में पहुँचकर सुरेश आनन्द तथा उन्मुक्तता के भाव से विभोर हो उठा। उस समय भी उसकी आयु मात्र सत्रह वर्ष थी और कानून की दृष्टि में वह नाबालिग था। अत: कुछ वरिष्ठ संन्यासियों ने सोचा कि मठ में प्रवेश लेने की दृष्टि से उसकी आयु अभी कम है और उसे सलाह दी कि वह घर लौटकर अपनी पढ़ाई जारी रखे। परन्तु कुछ लोगों ने उसकी निष्ठा से प्रभावित होकर कहा कि उसे मठ में रहने की अनुमति दी जाय। आखिरकार मामला स्वामीजी तक जा पहुँचा।

सबके तर्क-वितर्क सुनने के बाद स्वामीजी सुरेश की ओर उन्मुख हुए। उनकी तीक्ष्ण निगाहें बालक की सविनय नेत्रों से जा लगीं। उन्होंने कोमल स्वर में पूछा, "क्यों रे, तू गाना जानता है क्या? एक गीत सुना तो!" सुरेश के सीने पर से मानो एक चट्टान हट गयी। स्वामीजी के चरणों में प्रणाम करने के बाद वह पूरे मन-प्राण से गाने लगा – (भावार्थ) –

मैं न उन्हें जानता हूँ, न पहचानता हूँ,
तो भी मैं उन्हीं को चाहता हूँ।
जाने या अनजाने, अपने हृदय के आकर्षण से
(मैं) उन्हीं की ओर दौड़ रहा हूँ।।

क्षितिज तक अनन्त अन्धकार फैला है,
और कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता।
(मैं) उसी के भीतर मृदु-मधुर स्वर में
किसी को पुकारते हुए सुन पाता हूँ।।

इसीलिये मैं अन्धकार में उतरकर,
अन्धकार को ढकेलते हुए,
बिना कुछ समझे ही चला जा रहा हूँ ।
मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि मेरी माँ हैं
मुझे और कुछ भी ज्ञात नहीं है ।।
उनका नाम क्या है, उनका निवास कहाँ है
कौन जानता है और किससे पूछूँ !
मुझे न तो उनका पता ज्ञात है,
न योग-ध्यान या ज्ञान जानता हूँ, मैं तो
उनके गन्ध से ही उन्मत्त होकर दौड़ रहा हूँ ।।

स्वामीजी ने एक अद्‌भुत कौशल का आश्रय लेकर सुरेश के मन की बात जान ली थी। सुरेश को भी अपने भाव के साथ नेत्रों का जल मिलाकर स्वामीजी के समक्ष इस प्रकार अपने हृदय की बातें प्रस्तुत करने का अवसर मिला था। स्वामीजी ने बालक की आर्तता पर प्रसन्न होकर उसे मठ में रहने की अनुमति प्रदान की और तत्काल गुरुभाइयों को बुलाकर कह दिया, "यह लड़का मठ में रहेगा।" स्वामीजी की अनुमति हो जाने पर बाकी सबने निश्चिन्त होकर परम स्नेहपूर्वक बालक सुरेश की मठ में रहने की व्यवस्था कर दी। स्वामीजी के चरणों में स्थान पाकर सुरेश को भी उसी दिन एक नवजीवन प्राप्त हुआ। चिन्ता-उद्वेग मिट जाने से बालक के मुख तथा नेत्रों पर एक अद्‌भुत मधुरता खिल उठी। ऐसा लगा मानो सदियों की जड़ता के बाद नवागत वसन्त ऋतु के मलय-स्पर्श से मानो उसमें एक नवीन प्राण का संचार हुआ। इसीलिये स्वामी ब्रह्मानन्द ने उसे स्नेहपूर्वक एक नया नाम दिया – 'वसन्त'। इस नामकरण के पीछे महाराज का स्नेह-आशीर्वाद भी छिपा हुआ था। ब्रह्मानन्द जी कहते, "आचार्य शंकर ने क्या लिखा है, जानता है न? **शान्तो महान्तो निवसन्ति सन्तो, वसन्तवत् लोकहितं चरन्तः** – शान्त और महान् साधु पुरुषगण संसार में रहकर वसन्त ऋतु के समान लोक-कल्याण में निरत रहते हैं – वे जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहाँ वसन्त के समागम का आनन्द छाया रहता है।"

वसन्त के मठ में सम्मिलित होने के थोड़े दिनों बाद ही उसे मद्रास में स्वामी रामकृष्णानन्द के पास भेज दिया गया। वैराग्यवान सुन्दर बालक को देखकर रामकृष्णानन्द जी ने भी उसे सस्नेह स्वीकार किया। वस्तुत: उन्हीं के सान्निध्य तथा शिक्षा के प्रभाव से वसन्त के भावी साधु-जीवन की नींव सुदृढ़ हुई थी। मातृहीन वसन्त को इतने दिनों बाद इन लोकपूज्य वरिष्ठ संन्यासी में ही अपनी स्नेहमयी जननी की झलक दिखायी पड़ी। मद्रास पहुँचकर वसन्त को रामकृष्णानन्द जी के घनिष्ठ सम्पर्क में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु छह महीने बीतते-न-बीतते एक अप्रत्याशित बाधा ने आकर वसन्त के जीवन को विक्षुब्ध कर दिया। उनके सगे-सम्बन्धी कलकत्ते आकर संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द को यह कहते हुए तंग करने लगे कि वह अभी नाबालिग है, इसलिये उसे घर लौटा दिया जाय। महाराज ने भी काफी सोच-विचार के बाद रामकृष्णानन्द जी को पत्र लिखा कि वसन्त को कलकत्ते भेज दिया जाय। वसन्त भी इस आदेश के अनुसार मद्रास से बेलूड़ मठ आ पहुँचे।

उसके मठ में पहुँचने के कुछ दिन बाद ही स्वामी ब्रह्मानन्द बीमार पड़ गये। वसन्त बाकी सारी चिन्ताएँ छोड़कर उनकी सेवा में लग गया। महाराज भी उसकी सेवा से बड़े प्रसन्न हुए। एक दिन स्वामीजी मठ की निचली मंजिल के बरामदे में प्रेमानन्द जी के साथ बैठे हुए थे। वसन्त को उधर से जाते देखकर उन्होंने उसे बुलाकर कहा, "बेटा, क्या तू मेरे लिये भिक्षा माँगकर ला सकता है?" वसन्त ने सानन्द सहमति जतायी। स्वामीजी अपने भावी शिष्य को सम्भवत: इसी प्रकार संन्यास-जीवन के लिये प्रशिक्षित कर रहे थे। वसन्त को भिक्षा के लिये जाने को उद्यत देखकर स्वामीजी ने स्नेहपूर्वक कहा, "वाह, बहुत अच्छा ! तुम्हारे हाथ की भिक्षा पाकर मुझे कितनी खुशी होगी, यह तू नहीं जानता। मैं तुझे भिक्षु के वेश में देखना चाहता हूँ।" इसके बाद वे फिर बोले, "ठहर, तुझे पहली भिक्षा मैं ही दूँगा।" इतना कहकर स्वामीजी ने भण्डार से एक मुट्ठी चावल और दो-एक सब्जियाँ लाकर नवीन भिक्षु को अपने हाथ से भिक्षा देने के बाद उसे खूब आशीर्वाद भी दिया। वसन्त भी स्वामीजी का आशीर्वाद शिरोधार्य करने के बाद तत्काल भिक्षाटन करने बाहर निकल पड़ा। इधर स्वामीजी वसन्त की बाट जोहते हुए बिना-खाये बैठे रहे। अनभ्यस्त वसन्त जब भिक्षा लेकर मठ लौटा, तब तक दोपहर बीत चुका था। स्वामीजी प्रेमानन्द से बड़े आनन्दपूर्वक कह उठे, "भिक्षा का अन्न बड़ा पवित्र होता है। इसीलिये ठाकुर भिक्षा का अन्न पसन्द करते थे। बाबूराम, मैं आज वसन्त की ही भिक्षा का अन्न ग्रहण करूँगा।" इसके बाद उन्होंने वसन्त से पूछा, "बेटा, क्या तुम पकाना जानते हो?" वसन्त ने सिर हिलाकर हामी भरी। उस दिन वसन्त ने अपने हाथ से भिक्षान्न को पकाकर स्वामीजी को खिलाया था। वसन्त की सेवा ग्रहण करने के लिये स्वामीजी दो बजे तक बैठकर प्रतीक्षा करते रहे। वसन्त द्वारा पकाया हुआ अन्न उन्होंने बड़े आह्लाद के साथ खाया था और अन्य साधुओं को भी देने के लिये कहा था। स्वामीजी उस दिन बारम्बार कह रहे थे, "शुद्धचित्त ब्रह्मचारी की भिक्षा का अन्न बड़ा ही पवित्र होता है।" वसन्त भी उस दिन स्वामीजी का प्रसाद ग्रहण करके धन्यता को बोध कर रहा था।

अब तक सभी लोग वसन्त के घर लौटने की बात भूले हुए थे। स्वामीजी का साक्षात् संगलाभ तथा उनका कुछ-कुछ सेवाधिकार पाकर वसन्त भी अपने आध्यात्मिक जीवन

के लिये पाथेय संचय करने में लगा हुआ था। तभी सहसा समाचार आया कि वसन्त की बड़ी बहन विधवा हो गयी हैं और इस शोक में उनके वृद्ध पिता मृतप्राय हो गये हैं। यह समाचार सुनते ही मठाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने वसन्त को तत्काल ढाका भेज दिया, ताकि वह अपने शोक-सन्तप्त पिता को सान्त्वना प्रदान कर सके।

वसन्त के घर आकर अपने पिता की शय्या के पास उपस्थित होने पर उनके प्राण शीतल हुए। उसके सगे-सम्बन्धी उसे समझा-बुझाकर संसार में ही रखने का प्रयास करने लगे। वसन्त पहले की ही भाँति पिता की सेवा-शुश्रूषा आदि में लग गया। जैसे वह पहले प्रतिदिन शाम को भजन गाकर उन्हें सुनाया करता था और उनके पास बैठकर धर्मग्रन्थ आदि का पाठ किया करता था, अब वह फिर वैसा ही करने लगा। सगे-सम्बन्धी वसन्त को संसार-जाल में फँसाने के लिये तरह-तरह के उपाय सोचने लगे, परन्तु विधाता उनकी इन चेष्टाओं पर हँस रहे थे। वसन्त क्रमशः पिता को समझा-बुझाकर शान्त करके मठ में लौटने का सुयोग देख रहा था। उसी समय स्वामी रामकृष्णानन्द के हाथ का लिखा हुआ एक पत्र उसके हाथों में आया। किसी आवश्यक कार्य हेतु रामकृष्णानन्द जी कुछ दिनों के लिये मद्रास से बेलूड़ मठ आये हुए थे। वहीं से उन्होंने यह पत्र लिखा था। पत्र में उन्होंने वसन्त को सूचित किया था कि स्वामीजी उसके बारे में पूछताछ कर रहे थे। स्वामीजी ने रामकृष्णानन्द जी को बुलाकर कहा था, 'लड़का इतने दिनों से घर में क्यों बैठा है?'' पत्र पाते ही वसन्त के लिये अब स्थिर रह पाना असम्भव हो उठा। पिता को सब कुछ स्पष्ट रूप से बताकर उनकी स्वीकृति तथा आशीर्वाद लेने के बाद वसन्त पुनः बेलूड़ मठ लौट आया।

१९०१ ई. का दिसम्बर का महीना था। वसन्त एक दिन मठ के पीछे निर्जन में एक वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठा हुआ था, तभी स्वामीजी ने सहसा उसके पास आकर पूछा, ''क्यों रे, संन्यासी होना चाहता है?'' वसन्त आनन्द से उछल पड़ा और उनके चरणों में प्रणाम करके उनसे कृपा की भिक्षा माँगने लगा। स्वामीजी ने अगली पूर्णिमा को ही उसकी संन्यास-दीक्षा का दिन निर्धारित कर दिया। १९०२ ई. के जनवरी का महीना था। पूर्णिमा की रात के अन्तिम प्रहर में स्वामीजी ने वसन्त को जगद्धिताय श्रीरामकृष्ण के चरणों में समर्पित किया। संन्यास-दीक्षा के बाद वसन्त का नाम हुआ स्वामी परमानन्द। परमानन्द के संन्यास-अनुष्ठान के समय विरजा-होम में आचार्य का दायित्व स्वामी रामकृष्णानन्द जी ने निभाया था।

स्वामीजी उस समय बोधगया तथा वाराणसी के दर्शन हेतु जाने को तैयार हो रहे थे। उनकी इच्छा थी कि परमानन्द को भी साथ ले जायँ। पर मद्रास में कर्मी का अभाव होने के कारण परमानन्द का स्वामीजी के साथ जाना नहीं हो सका। वे स्वामी रामकृष्णानन्द के साथ पुनः मद्रास चले गये। इसके बाद परमानन्द को चर्मचक्षुओं से स्वामीजी का दुबारा दर्शन नहीं मिला।

परमानन्द मद्रास में आकर अब ध्यान-जप तथा शास्त्रपाठ के अतिरिक्त स्वामी रामकृष्णानन्द से सभी तरह की लौकिक शिक्षा भी प्राप्त करने लगे। वे इतनी अल्प आयु में घर छोड़कर आये थे कि घर में उन्हें किसी उपयुक्त अभिभावक की कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकी थी। अब से रामकृष्णानन्द जी ही उनके अभिभावक, शिक्षक, आचार्य तथा मित्र – सब कुछ हो गये। परमानन्द के मद्रास चले जाने के थोड़े दिनों बाद ही उनके गुरुदेव ने महासमाधि ले ली। इन तरुण संन्यासी के लिये यह अभाव कितना दुखद हुआ था, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। भगिनी निवेदिता तथा स्वामी सदानन्द जब प्रचार-यात्रा करते हुए मद्रास पहुँचे, तब परमानन्द दोनों के साथ बड़ी घनिष्ठता के साथ मिलकर स्वामीजी की बातें सुना करते थे। निवेदिता तथा सदानन्द के मुख से स्वामीजी के विषय में सुनते हुए परमानन्द को मानो अपने हृदय में स्वामीजी के प्रत्यक्ष सान्निध्य का अनुभव होता था। निवेदिता तरुण आयु के परमानन्द को स्नेहपूर्वक 'बेबी स्वामीजी' कहकर सम्बोधित किया करती थीं। परमानन्द कुतूहलपूर्वक रामकृष्णानन्दजी से भी स्वामीजी के विषय में बहुत-सी बातें पूछा करते थे। स्वामीजी के एक सुयोग्य गुरुभ्राता के मुख से उनकी अलौकिक कथा सुनते हुए परमानन्द रोमांचित हो उठते।

प्रतिदिन दोपहर में वे रामकृष्णानन्दजी से दो घण्टे शास्त्र पढ़ा करते थे। इसके अतिरिक्त सभी कार्यों में निरन्तर उनके साथ-साथ रहने के कारण परमानन्द का जीवन अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ही भक्ति, ज्ञान तथा कर्म की दृष्टि से भी प्रस्फुटित होता जा रहा था। परमानन्द की पर-दुख-कातरता तथा सेवा-परायणता की वृत्तियाँ रामकृष्णानन्दजी के संगगुण से अधिकाधिक विकसित हो रही थीं। आश्रम में किसी के बीमार पड़ जाने पर परमानन्द तत्काल उसकी शय्या के पास दीख पड़ते। रामकृष्णानन्द जी कहते, ''परमानन्द का पवित्र स्पर्श पाते ही मानो लोगों की व्याधि उड़न-छू हो जाती है।''

❖ (क्रमशः) ❖

ध्यान के लिए मन की तैयारी (२)

स्वामी आदीश्वरानन्द

(मन के शुष्क या चंचल रहने पर ध्यान में बैठना प्राय: असम्भव हो जाता है। ध्यान की मन:स्थिति को कई आन्तरिक व बाह्य तत्त्व प्रभावित करते रहते हैं। रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, न्यूयार्क के एक वरिष्ठ संन्यासी ने इस लेख में उन तत्त्वों पर अन्तर्दृष्टि-पूर्ण चर्चा की है। मूलत: अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के मार्च तथा अप्रैल १९८० अंकों में प्रकाशित लेख का स्वामी विदेहात्मानन्द कृत हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

५. महात्माओं का संग

साधक के निराश मन को ऊपर उठाने तथा उसकी आध्यात्मिक मन:स्थिति को जगाने में महात्माओं की संगति से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। ऐसा भी समय आता है जबकि साधक को ध्यान करने में जरा भी उत्साह या प्रेरणा का बोध नहीं होता। बिना किसी स्पष्ट कारण के ही उसका मन सहसा मानो एक अलंघ्य दीवार के सम्मुखीन हो जाता है और सब कुछ शुष्क, नीरस तथा जड़ हो जाता है। कितना भी शास्त्र-पाठ या नाम-जप या मन को एकाग्र करने का बारम्बार प्रयास निरर्थक ही सिद्ध होता है। मन को निकृष्ट विचारों तथा प्रवृत्तियों के दलदल में गिरने से बचाने के लिए उसके सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होते हैं और इसके फलस्वरूप वह हताशा तथा पराजय के भाव से अभिभूत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में महात्माओं का संग ही एकमात्र उपाय है। जिस प्रकार लोहे का तपता हुआ टुकड़ा गर्मी बिखेरता रहता है, उसी प्रकार तीव्र आध्यात्मिक मनोभाव से आविष्ट रहनेवाले महात्मागण आध्यात्मिक भावों का विकिरण करते रहते हैं और ऐसे महात्माओं के संसर्ग में आनेवाले साधक उनसे ऐसे भाव को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे बुरे लोगों की संगति संक्रामक होती है और मन में सुप्त पड़ी हुई कु-प्रवृत्तियों को उद्वेलित कर देती है, वैसे ही महात्माओं का संग सहज ही उसमें निहित समस्त दैवी प्रवृत्तियों को जगा देता है।

अस्तु इस सत्संग की प्रभावोत्पादकता साधक के **सम्यक् दृष्टिकोण** पर निर्भर करती है और जिन तत्त्वों से सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण होता है, वे निम्नलिखित हैं – **प्रथमत: साधक में श्रद्धा होनी चाहिए** – अर्थात् स्वयं में तथा सत्संग में विश्वास होना चाहिए। श्रद्धा का उल्टा भाव है दोष-दर्शन अर्थात् हर चीज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखना। **विनम्रता दूसरा तत्त्व है।** श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''बरसात का पानी टीले पर नहीं, बल्कि नीचे स्थानों में ही एकत्र होता है।'' इसी प्रकार एक विनम्र हृदय के अन्दर ही आध्यात्मिक मनोदशा का निर्माण होता है। कष्ट की अनुभूति करनेवाला एक सच्चा व्यक्ति अपनी कठिनाइयों के लिए किसी दूसरों को नहीं, बल्कि स्वयं को ही दोष देता है और केवल ऐसा व्यक्ति ही विनम्र होने के योग्य है। एक बीमार व्यक्ति को तब तक नीरोग नहीं किया जा सकता, जब तक वह स्वयं अपनी रुग्णता से छुटकारा पाने को व्यग्र न हो। **सेवा का भाव तीसरा तत्त्व है।** हो सकता है कि कोई साधक महात्माओं की संगति पाना चाहे, पर उन महात्मा को भी साधक की सच्चाई पर सन्तुष्ट होना चाहिए। सत्संग शारीरिक से कहीं अधिक, मानसिक होता है। इस विचार को बड़ी सुन्दरता के साथ रेखांकित करते हुए 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक श्री महेन्द्रनाथ दत्त कहते हैं – ''किसी महात्मा का दर्शन करना ही अपने आप में सत्संग है और महात्मा का दर्शन भी उस समय करना चाहिए, जब वे ध्यान में डूबे हों।''

६. सम्यक् वाणी बोलना

ध्यान की मनोदशा का विकास अन्तरंग भाव से वाणी-संयम के साथ जुड़ा हुआ है। शंकराचार्य ने इसे योग का प्रथम द्वार बताया है – **योगस्य प्रथमः द्वारः वाङ्निरोधः (वि.चू., ३६८)**। निरर्थक वाद-विवाद में लिप्त होना मन की ऊर्जा का क्षय करता है और उसे लक्ष्य से भटका देता है। और इस कारण यह ध्यानपरक मनोदशा के विकास में बाधक है। ध्यानयुक्त मन:स्थिति को बनाए रखने के लिए भी इस तरह का संयम आवश्यक है। एक सामान्य व्यक्ति क्षण भर भी बिना बातें किए नहीं रह सकता। बातें करने को यदि कोई नहीं मिला, तो ऐसा व्यक्ति मन-ही-मन स्वयं से बातें करता है अर्थात् निरन्तर किसी मानसिक उधेड़बुन में लगा रहता है। तथापि वाणी-संयम का अर्थ बलपूर्वक मौन रखना नहीं है और इस प्रकार बलपूर्वक मौन रखना न तो अपेक्षित है और न सम्भव ही है। देखने में आया है कि यदि कोई प्रवर्तक एक या दो दिन के लिए मौन-व्रत धारण करता है, तो मौन का काल समाप्त हो जाने के बाद वह अत्यधिक बातें करने में लिप्त हो जाता है और इस प्रकार वह अपने व्रत को हानिकर बना लेता है। वाणी-संयम का अर्थ है – सत्य, आनन्दप्रद तथा सबके लिए हितकर बातें कहकर वाणी का सम्यक् उपयोग करना।

ध्यान का अर्थ है – मौन का अभ्यास करना और जिस व्यक्ति में वाणी का संयम नहीं है वह सहसा ही मौन का अभ्यास नहीं कर सकता। अतएव प्रवर्तक को नाम-जप की आदत डालने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार का जप मन को एकमेव विचार में व्यस्त रखता है और ध्यानपरक

मौन के लिए मन:स्थिति का निर्माण करता है। मानसिक रूप से किया गया 'जप' परिपक्व होकर 'मनन' में परिणत हो जाता है; और मनन भी क्रमश: प्रगाढ़ होकर 'ध्यान' का रूप धारण कर लेता है और जब ध्यान सहज-स्वाभाविक हो जाता है, तो यह समाधि की पहली अवस्था कहलाती है। मन के विभिन्न विचार-तरंगों को केवल दमन के द्वारा रोका नहीं जा सकता। सर्वप्रथम उन्हें निष्प्रभावी बनाना होगा और तब प्रयासपूर्वक एक ही विचार के चिन्तन के द्वारा उन पर विजय प्राप्त करनी होगी, जो कि जप के अभ्यास के द्वारा सम्भव है। एक ही विचार के निरन्तर बारम्बार आवृत्ति के द्वारा उसकी तरंग बृहत्तर तथा बलवत्तर होती जाती है और इस प्रकार मन की सतह पर उभरनेवाले असंख्य छोटे छोटे भाव-तरंगों को दबा देती है।

७. आहार की शुद्धि

आहार का मन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। भोजन की शुद्धता या अशुद्धता के द्वारा ध्यान की मन:स्थिति काफी प्रभावित होती है। कोई भी भोजन, जो कि पवित्र नहीं किया गया है अथवा अपवित्र स्पन्दनों से दूषित हो चुका है, उसे अपवित्र आहार माना जाता है और इस कारण वह आध्यात्मिक मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। शुद्ध भोजन रक्त तथा मन को शुद्ध बनाता है। भगवद्गीता उस भोजन को शुद्ध बताती है, जो सत्त्वगुण के उदय में सहायता करता है। सत्त्वगुण विकसित होने पर ही ध्यानप्रवण मनोदशा का ही उदय होता है। इसके विपरीत मनोदशा के दो प्रकार हैं – या तो वे राजसिक अर्थात् सांसारिक वस्तुओं व भोगों के लिए उत्तेजक कामनाएँ हैं अथवा तामसिक अर्थात् मन की जड़ता अज्ञान में वृद्धि करनेवाले हैं। साधक में सत्त्वगुण का उदय तभी सम्भव है, यदि वह शरीर तथा मन – दोनों के ही पोषक माने जानेवाले निम्नलिखित दस चीजों की शुद्धता सुनिश्चित कर सके – धर्मग्रन्थ या पाठ्य-सामग्री, जल या पेय पदार्थ, लोग या संगति, स्थान अर्थात् रहने की जगह, काल अर्थात् शुभ समय, कर्म अर्थात् व्यवसाय, जन्म अर्थात् विशिष्ट मार्ग की शिक्षा, ध्यान, मंत्र अर्थात् जप के लिए पवित्र शब्द और शुद्धीकरण।

८. उचित प्रणाली

कुछ ग्रन्थों में ध्यान की मन:स्थिति को 'भाव' कहा गया है, जिसे ध्येय-विषय (इष्ट) के साथ एक आवेगपूर्ण सम्बन्ध के रूप में निरूपित किया गया है। भक्ति की सघन अवस्था को भावावस्था कहते हैं। साधक के हृदय में ध्येय-विषय (इष्ट) के प्रति प्रेम होना चाहिए और ध्येय-विषय के प्रति हृदय के समर्पण के फलस्वरूप ही प्रेम का उदय होता है। साधक के ध्येय का विषय या इष्ट का चुनाव उसके आन्तरिक स्वभाव तथा संस्कार के अनुरूप होना चाहिए। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें साधक को जब किसी निराकार विषय पर ध्यान करने को कहा जाता है, तो उसके मन में ऐसे ध्यान के लिए कोई उत्साह पैदा नहीं होता। परन्तु उसी व्यक्ति को ईश्वर के किसी साकार रूप पर ध्यान करने की सलाह दी जाती है, तो वह अपने अभ्यास में काफी भावुकतापूर्ण आकर्षण महसूस करता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी प्रवर्तक को जब किसी धारणा (भाव) या मूर्ति या प्रतीक पर मन एकाग्र करने को कहा जाता है और उसे ध्यानाभ्यास करने में कोई रुचि पैदा नहीं होती, परन्तु हो सकता है कि उसे आनुष्ठानिक तथा भक्तिमूलक पूजा में काफी रुचि लगे। अत: ध्यान की पद्धति व्यक्ति की आनुवंशिकता, स्वभाव तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप होनी चाहिए।

९. अटल इष्टनिष्ठा

ध्यानप्रवण मन:स्थिति के विकास में ध्येय वस्तु के प्रति अटल निष्ठा एक परम महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। विभिन्न शास्त्रों में बताया गया है कि केवल यह 'निष्ठा' ही 'भक्ति' उत्पन्न कर सकती है और भक्ति परिपक्व होकर 'भाव' में परिणत हो जाती है और भाव गम्भीर होने पर वह सहज प्रेमपूर्ण स्मृति अर्थात् 'भावना' का रूप ले लेती है। रामानुजाचार्य इस 'भावना' की अवस्था को ही ध्यान कहते हैं। संरक्षणशील एकाग्र-निष्ठा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को पोषण प्रदान करके उसे तीव्र बनाती है। प्रारम्भ से ही उदार भाव रखनेवाले कभी विकसित नहीं होते। निष्ठा कोई संकीर्ण दृष्टिकोण या मतवाद नहीं है, वह अन्य आदर्शों, अन्य इष्टों के प्रति द्वेष के द्वारा अपने आदर्श के प्रति प्रेम नहीं है। सच्ची निष्ठा से युक्त साधक सभी आदर्शों से प्रेम करता है, परन्तु अपने चुने हुए आदर्श के प्रति एक विशेष प्रेम तथा पूजा का भाव रखता है। उदाहरण के लिए जब एक कृष्ण का उपासक शिव के मन्दिर में जाता है, तो वह शिव के रूप में भी कृष्ण का ही ध्यान करने का प्रयास करता है।

एकाग्र इष्टनिष्ठा साधक को अपने ध्येय विषय के प्रति सबल भाव से सम्बन्ध विकसित करने में सहायता करता है और यह भावमय समर्पण ही ध्यान के विषय को सजीव बना सकता है। इष्ट, चाहे साकार हो या निराकार, जब तक साधक के मन में यह सुनिश्चित धारणा नहीं बन जाती कि उसकी ध्येय-वस्तु केवल एक चित्र या रूप या एक धारणा ही नहीं, बल्कि उसके भीतर स्थित ईश्वर की एक सजीव उपस्थिति है, तब तक उसके लिए ध्यान के लिए मन:स्थिति बना पाना सम्भव नहीं है। पतंजलि के अनुसार दीर्घ काल तक और अत्यन्त अनुरागपूर्वक इस तरह के ध्यान का अभ्यास करने पर ही ध्यान में सिद्धि पायी जा सकती है। यदि किसी साधक में जन्म से ही यह महान् प्रेम न हो, तो

वह प्रारम्भ से ही इसे पाने की आशा नहीं कर सकता। उसे प्रेम का विकास करना होगा और निष्ठा के माध्यम से ही इसका विकास सम्भव है। बारम्बार अभ्यास प्रारम्भ में भले ही यंत्रवत् प्रतीत होता हो, परन्तु उसमें लगे रहने से ही समय आने पर इष्ट के प्रति प्रेम का उदय होता है और एकाग्र-निष्ठा ही साधक को इस अभ्यास में लगे रहने को प्रेरित करता है।

१०. सेवा के कार्य

सेवा के कार्य भी ध्यानाभ्यास के परिपूरक हैं। बन्द आँखों से ध्यान द्वारा उन्हें देखने का प्रयास, खुली आँखों के साथ (सबमें) ईश्वर को देखने के प्रयास पर अवलम्बित होना चाहिए। ध्यान की गहराइयों में जिसकी अनुभूति की जाती है, उसका दैनन्दिन जीवन में उपयोग होना चाहिए। ध्यान और क्रिया सर्वदा साथ-साथ चलते हैं। सभी जीवों को अपने इष्ट की ही अभिव्यक्ति मानकर उनकी सेवा करना, ध्यान के अभ्यास को आध्यात्मिक दृष्टि से सकारात्मक तथा क्रियाशील बना देता है और ऐसी आध्यात्मिक क्रियाशीलता साधक के ध्यानप्रवण मन:स्थिति को उन्नीत कर देती है। **सब कुछ पूजा के भाव से करने को ही सेवा का अभ्यास कहते हैं।** इसमें साधक के द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया को ईश्वर के प्रति समर्पित करने की आवश्यकता होती है। इसलिए ध्यान की मनोदशा के विकास हेतु ध्यान के इन दोनों पहलुओं के बीच ठीक ठीक सामंजस्य होना चाहिए।

११. उचित प्रेरणा

आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही ध्यान की मन:स्थिति कहते हैं। दूसरी ओर भावनाएँ बुद्धि के द्वारा प्रेरित तथा नियंत्रित होती हैं और बुद्धि ही समस्त क्रियाओं तथा भावनाओं के पीछे स्थित प्रेरणा का निर्धारण करती है। जिसकी जैसी प्रेरणा है, उसकी वैसी ही मनोदशा होती है और जिसकी जैसी मनोदशा होती है, उसका वैसा ही ध्यान होता है। अतएव किसी भी क्रिया को सम्पन्न करने के लिए मन:स्थिति के निर्माण में प्रेरणा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ध्यान की मनोदशा का अनुभव करने के लिए एक आध्यात्मिक प्रेरणा आवश्यक है, क्योंकि एकमात्र आध्यात्मिक प्रेरणा ही आध्यात्मिक भाव को जगा सकती है। आध्यात्मिक प्रेरणा के विपरीत है, सांसारिक प्रेरणा जो सर्वदा कुछ-न-कुछ प्राप्त करना या दूर करना चाहती है और इस कारण ऐसी प्रेरणा के साथ किया गया ध्यान प्राय: हमें उसके फल के विषय में चिन्ता से बोझिल बना देता है। आध्यात्मिक प्रेरणा एक ऐसी अध्यात्म-परक बुद्धि से उत्पन्न होती है, जिसमें अपने आध्यात्मिक लक्ष्य के बारे में और इहलोक व परलोक के सभी सांसारिक विषयों तथा भोगों की क्षणभंगुरता के विषय में दृढ़ विश्वास होता है। भगवद्गीता बताती है कि **ध्यान का अभ्यास वैराग्य के अभ्यास पर आधारित होना चहिए।** साधक को सांसारिक भोगों की नश्वरता और उनसे प्राप्त होनेवाली कटु हताशाओं पर विचार करते हुए अपने मन में वैराग्य का विकास करना चाहिए। जब तक व्यक्ति वैराग्य के भाव से अनुप्राणित न हो, तब तक उसमें ध्यान के लिए सच्ची मन:स्थिति आना सम्भव नहीं है।

१२. विचार का अभ्यास

ध्यान के लिए मन:स्थिति बनाने के इच्छुक साधक को प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त विवेकशील होना चाहिए। उसे असत् और सत् के बीच, ईशप्रेम और स्वार्थप्रेम के बीच, आध्यात्मिक चर्चा तथा निरर्थक वार्तालाप के बीच और सच्ची आध्यात्मिक आकांक्षा तथा मनमौजीपन तथा भावुकता के बीच विवेक करना चाहिए। साधक को हर चीज का आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना पड़ता है। जो कुछ भी आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरक है, वह स्पृहणीय है और जो कुछ प्रेरक नहीं है, वह त्याज्य है। उसके लिए मूल्यांकन करने हेतु मापदण्ड यह है – ''क्या यह मेरी साधना में सहायक है?'' जब तक आध्यात्मिक लक्ष्य और दैनिक आचरण के बीच ठीक-ठीक सामंजस्य नहीं बैठा लिया जाता, तब तक न तो ध्यान की मन:स्थिति विकसित की जा सकती है और न उसे बनाए ही रखा जा सकता है। ध्यान के अभ्यासियों में प्राय: दो प्रकार के आचरण देखने में आते हैं – या तो वे बाह्य जगत् से अपने आप को पूर्णत: अलग कर लेते हैं, अथवा वे प्रारम्भ से ही अत्यन्त उदार तथा सार्वभौमिक होने का प्रयास करते हैं। ये दोनों ही चरम आचरण हैं और दोनों ही अन्तत: पश्चाताप या प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। अतएव विवेक हर कदम पर अत्यन्त आवश्यक है।

१३. भक्ति संगीत या भजन

साधक के मन में सुप्त आध्यात्मिक भावनाओं को जगाने में भक्ति-संगीत को बड़ा प्रभावी माना गया है। ऐसा संगीत मन को शान्त करता है और साधक प्राय: जिन हताशाजनक विचारों को अचेतन रूप से पकड़ लेता है, उनसे मुक्ति प्रदान करने के लिए यह एक आध्यात्मिक दिशा-परिवर्तक का भी कार्य करता है। भक्ति-संगीत को गाना या सुनना, ध्यान का ही एक आनुषंगिक अभ्यास माना जाता है।

१४. स्वाध्याय तथा धर्मग्रन्थों का पाठ

सही उच्चारण के साथ शास्त्रों की आवृत्ति करना भी योग परम्परा में, आध्यात्मिक मन:स्थिति के विकास में एक प्रभावी अभ्यास माना गया है। ऐसे शास्त्रों का लयपूर्वक पाठ मन में आध्यात्मिक विचार-तरंगों को जन्म देता है और ध्यान के लिए आवश्यक मन:स्थिति का निर्माण करता है। लयपूर्वक

आवृत्ति की ध्वनि मन में अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को याद दिलानेवाली विचार-तरंगें भी उत्पन्न करती रहती हैं। ऐसी आवृत्ति कुछ काल तक जारी रहने पर उससे उठी हुई विचार-तरंगें धीरे-धीरे अन्य सभी विपरीत विचार-तरंगों को वशीभूत कर लेती हैं और इस प्रकार ध्यान के लिए मन:स्थिति का निर्माण करती हैं।

१५. आनुष्ठानिक अभ्यास या पूजा

किसी सुयोग्य गुरु द्वारा चयनित अथवा निर्दिष्ट विशिष्ट साधन-प्रक्रिया के अनुसार भी प्रत्येक व्यक्ति का ध्यानाभ्यास दूसरों से भिन्न प्रकार का होता है। ध्यान की प्रत्येक ऐसी क्रिया किसी विशिष्ट आनुष्ठानिक प्रक्रिया से जुड़ी है और वह प्राय: ही ध्यानाभ्यास का अंग होती है। ध्यान की मन:स्थिति का विकास अन्तरंग रूप से इन अनुष्ठानों के सम्पादन से जुड़ा रहता है। **साधक नियमित रूप से तथा बारम्बार जो कुछ भी करता है, वह उसके लिए अन्ततः एक अनुष्ठान बन जाता है** और ऐसे अनुष्ठान उसके आध्यात्मिक मन:स्थिति को लाने में काफी सहायक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए हो सकता है कि कोई साधक ध्यान में बैठने के पूर्व अपने शरीर पर गंगा-जल छिड़कता हो और उसके द्वारा वह ध्यान के लिए आवश्यक मन:स्थिति प्राप्त कर लेता हो; जबकि सम्भव है कि दूसरे साधक को अगरबत्ती जलाकर ही अपनी आध्यात्मिक मन:स्थिति प्राप्त करने में सुविधा हो; और कुछ अन्य लोग हो सकता है इसी उद्देश्य हेतु कुछ धर्मग्रन्थों की आवृत्ति करें। अतएव प्रत्येक साधक को अपनी श्रद्धा तथा संस्कारों के अनुरूप अपनी स्वयं की एक ऐसी आनुष्ठानिक प्रक्रिया विकसित करनी चाहिए, जो कि उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो और अपनी आध्यात्मिक मन:स्थिति के विकास हेतु दृढ़तापूर्वक उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं के अभाव में ध्यान का अभ्यास पूर्णत: एक आकस्मिक क्रिया बन जाती है और इस प्रकार इसके प्रभाव प्राय: क्षणकालिक और यहाँ तक कि हानिकारक भी सिद्ध होते हैं।

१६. नियमितता और अभ्यास में सन्तुलन

आध्यात्मिक मनोदशा का विकास करने के लिए व्यक्ति को ध्यान की किसी विशिष्ट प्रक्रिया का आश्रय लेना चाहिए और अपने अभ्यास में नियमित रहना चाहिए। सुदीर्घ काल तक, बिना व्यतिक्रम के और भक्तिपूर्वक किए जाने पर अभ्यास सुदृढ़ हो जाता है। बिना किसी व्यतिक्रम के अभ्यास में दृढ़ निष्ठा अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि एक दिन की चूक भी साधक को उसकी कई दिन पहले की स्थिति में पहुँचा देती है। अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर यात्रा कर रहे साधक के लिए स्थिर अवस्था जैसा कुछ भी नहीं है। या तो वह आगे बढ़ रहा होता है, अथवा पीछे की ओर जा रहा होता है। अभ्यास में सन्तुलन का तात्पर्य है – समन्वित परिश्रम तथा हर दृष्टि से संयम का अभ्यास; और साथ ही यह – मुख्य अभ्यास के रूप में ध्यान और पूजा, स्वाध्याय, सेवा आदि उसके आनुषंगिक अभ्यासों के बीच सन्तुलन का भी द्योतक है। आध्यात्मिक मन:स्थिति का विकास इच्छा, अनुभव, चिन्तन तथा क्रिया – मन के चारों क्षमताओं के सहयोग की अपेक्षा रखता है और इस कारण साधक का आध्यात्मिक जीवन ऐसा होना चाहिए कि उसमें ये चारों क्षमताएँ समन्वित रूप से विकसित हों।

१७. प्राणायाम का अभ्यास

श्वास का नियमन भी ध्यान की मन:स्थिति बनाने का एक साधन माना गया है। श्वास का प्रवाह मन की अवस्था का सूचक है। सम गति से चलनेवाला श्वास आध्यात्मिक मन:स्थिति का और असम गति से चलनेवाला उसके विपरीत मन:स्थिति का द्योतक है। योग-दर्शन के आचार्यों के मतानुसार प्रयासपूर्वक श्वास को सम गति से चलाकर ध्यान की मन:स्थिति बनाई जा सकती है। उनका मानना है कि उद्दण्ड मन को आध्यात्मिक लक्ष्य की उपयोगिता समझाने का प्रयास निरर्थक है, क्योंकि स्वभाव से ही उद्दण्ड मन की आदतों को केवल युक्ति तथा विचार के द्वारा नहीं बदला जा सकता। इस कारण साधक को मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम जैसे बाह्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु **प्राणायाम का अभ्यास यदि तीव्र वैराग्य तथा चरित्र की शुद्धता से युक्त न हो, तो यह अप्रभावी तथा यांत्रिक सिद्ध होता है और इस कारण यह साधक के लिए निश्चित रूप से हानिकारक है।** जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – पवित्रता, त्याग तथा उपासना के भाव पर आधारित हुए बिना प्राणायाम का अभ्यास स्नायविक दुर्बलता और यहाँ तक कि मस्तिष्क को विकृत कर देता है। योग तथा वेदान्त के एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'योगवाशिष्ठ-सार' के अनुसार ध्यान की मन:स्थिति बनाने के चार उपायों – सत्संगति, विवेक-विचार, इच्छाओं का निराकरण और प्राणायाम में से प्राणायाम को ही सर्वाधिक सशक्त उपाय माना गया है और अन्य तीन उपायों के विफल हो जाने के बाद ही इसके अभ्यास को उचित ठहराया गया है।

१८. जप की साधना

साधक द्वारा स्वयं चुने हुए किसी सुयोग्य गुरु द्वारा निर्दिष्ट एक पवित्र नाम, अक्षर या शब्द (मंत्र) की आवृत्ति को जप-साधना कहा जाता है। जब किसी ऐसे शब्द या अक्षर (मंत्र) का जप किया जाता है, तब यह आध्यात्मिक चेतना से जागृत हो उठता है और ध्यान की मन:स्थिति बनाने में एक

परम सशक्त सहायक सिद्ध होता है। यह जप उच्चारण करते हुए, बुदबुदाते हुए या मन-ही-मन किया जा सकता है और साधक को इस मंत्र के अर्थ पर मन को एकाग्र करने का निर्देश दिया जाता है। **जप के अभ्यास में निरन्तरता आ जाने पर यह ध्यान में परिणत हो जाता है।** जब मन अनायास ही एकाग्र होने लगता है, तो उसे ध्यान की अवस्था कहते हैं। मंत्र की प्रत्येक आवृत्ति मानो एक नये भाव-तरंग की बूँद है, जो मन की गहराइयों में एकत्रित होती रहती है और जब इन तरंगों की संख्या में वृद्धि हो जाती है, तब वे सहज स्मरण के रूप में मन के सतह पर आ जाती हैं, जो अपने आप में ध्यान है। अतएव जप का अभ्यास न केवल ध्यान की मन:स्थिति के विकास में सहायक है, बल्कि उस मन:स्थिति को सुदीर्घ बनाकर सर्वदा बनाए रखने का भी एक साधन है।

बंगाल के सन्त कवि रामप्रसाद अपने एक भजन में आध्यात्मिक मन:स्थिति का एक दैवी उन्मत्तता के रूप में वर्णन करते हैं और इस मतवालेपन का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं – ''मैं साधारण सुरा नहीं पीता हूँ, बल्कि 'जय काली' कह कर जप करना ही मेरा सुरापान है, यही मेरे मन को मतवाला कर देता है और लोग मुझे सचमुच का ही सुरापायी समझ बैठते हैं। इस सुरा को बनाने के लिए गुरुमंत्र रूपी गुड़ लेता हूँ, उसके बाद उसमें अपनी व्याकुलता रूपी खमीर मिलाता हूँ। तब ज्ञान रूपी कलवार उसका भट्ठी से आसवन करता है। उसके बाद मेरा मन जगदम्बा का नाम लेकर इसके मंत्र रूपी बोतल को शुद्ध करता है। रामप्रसाद कहते हैं कि जो कोई इस सुरा को पीता है, वह जीवन के धर्म, अर्थ आदि चारों पुरुषार्थों को पा लेता है।'' इस प्रकार **साधक तभी सच्चे आध्यात्मिक मनःस्थिति का अनुभव करता है, जब उसने सच्चे आध्यात्मिक आनन्द का आस्वादन कर लिया है,** जिसका कि रामप्रसाद ने दिव्या सुरा से तुलना की है। जब तक व्यक्ति स्वयं ही इस सुरा का निर्माण नहीं कर लेता, तब तक वह इसे पीने का अधिकारी नहीं बनता।

❑❑❑

जीवन का उद्देश्य है – ईश्वरप्राप्ति

रात को आकाश में कितने ही तारे देखाई देते हैं, पर सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। तो क्या इस कारण तुम कह दोगे कि दिन में तारे नहीं होते ! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते, इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं।

इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जो व्यक्ति इसी जीवन में भगवत्प्राप्ति के लिए चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

संसार में लोग दो तरह की प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेते हैं – विद्या और अविद्या। विद्या मुक्तिपथ पर ले जानेवाली प्रवृत्ति है और अविद्या संसार-बन्धन में डालने वाली। मनुष्य के जन्म के समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानो खाली तराजू के पलड़ों की तरह समतोल स्थिति में रहती हैं। परन्तु शीघ्र ही मानो मनरूपी तराजू के एक पलड़े में संसार के भोग-सुखों का आकर्षण तथा दूसरे में भगवान का आकर्षण स्थापित हो जाता है। यदि मन में संसार का आकर्षण अधिक हो, तो अविद्या का पलड़ा भारी होकर झुक जाता है और मनुष्य संसार में डूब जाता है; पर यदि मन में भगवान के प्रति अधिक आकर्षण हो तो विद्या का पलड़ा भारी हो जाता है और मनुष्य भगवान की ओर खिंचता चला जाता है।

जैसी जिसकी भावना होगी, उसे वैसी ही प्राप्ति होगी। भगवान् मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो व्यक्ति, जो भी माँगता है, उसे वही मिलता है। गरीब का लड़का पढ़-लिखकर तथा कड़ी मेहनत कर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन-ही-मन सोचता है, ''अब मैं मजे में हूँ। मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आ पहुँचा हूँ। अब मुझे बड़ा आनन्द है।'' भगवान भी कहते हैं, ''तुम मजे में ही रहो।'' पर जब वह अपने पद से सेवानिवृत्त होकर पेंशन लेकर अपने विगत जीवन की ओर देखता है, तो उसे लगता है कि उसने अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया। तब वह कहता है, ''हाय, इस जीवन में मैंने कौन-सा उल्लेखनीय काम किया?'' भगवान भी कहते हैं, 'ठीक ही तो है, तुमने किया ही क्या !''

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।

पहले ईश्वर को पा लो, फिर धन कमाना; पहले धनलाभ करने की चेष्टा मत करो। यदि तुम भगवत्प्राप्ति कर लेने के बाद संसार में प्रवेश करो, तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी। – ***श्रीरामकृष्ण***

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२५४. रहिमन ओछे नरन की ओछी ही करतूति

एक बार नादिरशाह बीमार पड़ा। हकीम को जब बुलाया गया, तो उसने बताया कि किसी बालक का कलेजा निकाल कर दवा बनाने पर ही वह स्वस्थ हो सकता है।

जल्द ही एक बालक को लाकर बादशाह के सामने पेश किया गया। जल्लाद को बुलाया गया। नियत समय पर कलेजा निकालने के लिये जल्लाद ने तलवार उठाई, तो बालक एक ओर हट गया और आसमान की ओर देखकर वह तीन बार हँसा। बादशाह ने जल्लाद को रोककर बालक से आसमान की ओर देखते हुए हँसने का कारण पूछा।

बालक ने जवाब दिया, "हुजूर, माँ-बाप का फर्ज है कि वह बेटे का ठीक तरह से पालन-पोषण करे। पहली बार मुझे हँसी इसलिए आई कि मेरे माँ-बाप ने खुदा की मर्जी के खिलाफ मुझे आपके सिपाहियों को बेच दिया।"

"बादशाह का फर्ज होता है कि प्रजा को अपनी सन्तान समझकर उसकी हिफाजत करे और उसके दुख-कष्ट दूर करके अमन-चैन स्थापित करे। आप भी खुदा के आदेश की अवहेलना कर रहे हैं, यह देख मुझे दूसरी बार हँसी आई।

"खुदा बादशाह को दुनिया में इंसाफ करने के लिए अपने एक दूत के रूप में भेजता है। इसे भूलकर बादशाह को अपनी जान बचाने के लिये एक बेकसूर बच्चे की जान लेने को उतावला देखकर और उसकी ना-इन्साफी का ख्याल आते ही – मुझे तीसरी बार हँसी आ गई।

आसमान की ओर देखकर मैं खुदा को उसके बन्दों की करतूतों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता था।

सुनकर जल्लाद के मुँह से 'तौबा-तौबा' शब्द निकल पड़े। उसने बादशाह से कहा, "हुजूर, खुदा ने मुझे भी नेक काम करने के लिये ही इस दुनिया में भेजा होगा। मगर इस बात से अनजान होने के कारण ही मैं बेकसूर लोगों को हलाल करने का पाप करता आया था। अब तक किये गये अनेक पापों के फल तो मुझे नरक में भोगने ही पड़ेंगे, मगर अब मेरी आँखें खुल गई है। अब से मैं ऐसा कोई पाप नहीं कर सकूँगा, चाहे आप मेरा कत्ल ही क्यों न कर डालें।"

यह कहकर उसने तलवार नीचे रख दी। सुनकर नादिरशाह जैसे बेरहम, क्रूर तथा जुल्मी बादशाह की आँखें भी नीची हो गईं। उसने तुरन्त बालक को रिहा करने का आदेश दिया।

२५५. अहिंसा परम धर्म और परम तप है

एक बार एक व्यक्ति ने भगवान महावीर से प्रश्न किया, "एक ओर तो आप अहिंसा का पालन करने पर जोर देते हैं और दूसरी ओर कहते हैं – जुद्ध रिहं खलु दुल्लह – अर्थात् युद्ध सचमुच दुर्लभ है। पर युद्ध होने से मनुष्य और पशुओं की हिंसा तो होगी ही। इसमें क्या विरोधाभास नहीं दिखता?"

महावीर ने कहा, "तुम्हारी बात सही है। मैं हर मनुष्य के जीवन में अहिंसा-व्रत का पालन करने का उपदेश देता हूँ। पर क्षत्रियों के लिये युद्ध अनिवार्य होने के कारण उन्हें अहिंसा से नहीं रोकता। अपनी प्राणरक्षा हेतु उनके लिये इस अहिंसा-व्रत का पालन न करना आवश्यक हो जाता है। अन्य लोगों को भी मैं आत्मरक्षा के लिये अत्याचारी को भय दिखाने और उसके द्वारा न मानने पर हिंसा की अनुमति देता हूँ। मेरी दृष्टि में अहिंसा का पालन करने से आन्तरिक शत्रुओं का दमन होता है। युद्ध में वीरता और साहस के द्वारा बाह्य शत्रुओं का नाश होता है। अहिंसा का अर्थ है – सब प्राणियों के प्रति दया और क्षमा का भाव। मनसा-वाचा-कर्मणा किसी के भी मन को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है।

"ऐसी बात नहीं कि अस्त्र-शस्त्रों से किसी को मारना या हाथ-पैर आदि से कीड़ों-मकोड़ों को नष्ट करना ही हिंसा हो। किसी का अहित चाहना मानसिक हिंसा है, तो किसी के अहित की बात करना वाचिक हिंसा और अपने कर्मों से दूसरों को क्लेश पहुँचाना या कष्ट देना कर्मजनित हिंसा है। स्वयं हिंसा न करके, दूसरों से हिंसा करवाना या हिंसा करने वाले का समर्थन करना भी हिंसा है।

"जो व्यक्ति निरीह प्राणियों को अकारण कष्ट पहुँचाना चाहते हैं, मनुष्यों या पशुओं को पीड़ा देते हैं, उन पर अधिक भार डालते हैं, आश्रित व्यक्तियों या पशु-पक्षियों को अन्न-जल से वंचित करते हैं – मेरी दृष्टि में उनके ये क्रिया-कलाप हिंसक ही हैं। प्राणीमात्र पर दया दिखाना ही मैं अहिंसा समझता हूँ।"

❑❑❑

कर्मयोग – एक चिन्तन (२३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

देखिए, हमें दु:ख अहंकार के टकराव से होता है। चाहे वह पति-पत्नी में हो, या पिता-पुत्र में हो या संसार के किसी भी मानवीय सम्बन्धों में हो। इस अहंकार के कारण हम मूढ़ हो जाते हैं। यदि हम अपने कर्तापन को मिटा सकें, अपने अहंकार को मिटा सकें, तो परमात्मा हमारे हृदय में प्रकाशित हो जायेंगे। भगवान कहते हैं –

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।१८-१७

– जिसमें अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि कहीं आसक्त नहीं है, वह इस संसार का वध करके भी न हन्ता बनता है, न ही बद्ध होता है।

जिसके मन में अहं की भावना नहीं है। जिसकी बुद्धि कहीं लिप्त नहीं होती है, वह क्या एकदम से निरंहाकारी हो जायेगा? नहीं हो सकता। किन्तु हमको यह पहले लगना तो चाहिये कि अहंकार बुरा है। जब हमको यह लगने लगेगा, तब हम उसे छोड़ने का प्रयत्न करेंगे। हमें अहंकार के इस दोष को समझना पड़ेगा और मैं कर्ता नहीं हूँ इस भाव का अभ्यास करना पड़ेगा। इस प्रकार दृष्टि रखने पर धीरे-धीरे कर्ता बुद्धि कम होती जायेगी। यह आत्मनिरीक्षण और विचार से होगा। जैसे हम अहमदाबाद स्टेशन पर पहुँचे, तो टी.टी. ने हमको बताया कि आज गाड़ी डेढ़ घंटा लेट हो गयी। अच्छा, अब आप बतायें, कि इस गाड़ी को लेट करने में कौन जिम्मेदार हैं? क्या रेलवे मंत्री ने योजना बनायी थी कि ये स्वामीजी इस गाड़ी से जा रहे हैं, तो ऐसा इंतजाम कर दो कि डेढ़ घंटा देर से अहमदाबाद पहुँचे? क्या उस ड्राइवर ने या गार्ड ने ऐसा किया? किसने किया? कोई नहीं जानता। घटना घट गयी, जिस पर किसी का अधिकार नहीं था। यह सब ईश्वर की इच्छा से हुआ। इसमें दूसरे किसी का कोई कर्तृत्व नहीं था।

आध्यात्मिकता कोई असंभव बात नहीं है। जीवन में साधु-संग करने से, भगवान का भजन करने से, प्रार्थना करने से धीरे-धीरे आध्यात्मिकता आती है। उदाहरण के लिए, जब हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं, या टी.वी. देखते हैं, तब हमारा सम्बन्ध जड़ से होता है। क्योंकि ये कागज, पुस्तक, पेपर वेट, टी.वी. चित्र आदि जड़ हैं। यहाँ जड़ और चेतन का संपर्क होता है। चेतना के प्रति जड़ कोई प्रतिक्रिया नहीं कर सकता। इसलिये उससे हमें कुछ विशेष लाभ नहीं हो पाता। किन्तु जब हम सत्संग करते हैं, साधु-संग करते हैं, भक्त का संग करते हैं, तब एक चेतन का दूसरे चेतन के साथ सम्बन्ध होता है, संपर्क होता है। इससे दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। तब दोनों के जीवन में परिवर्तन घटता है। पुस्तक मुझे कभी नहीं कहेगी कि तुम यह करो। पुस्तक में जो लिखा है, उसे मुझे अपनी बुद्धि से समझना पड़ेगा। किन्तु जब कोई आचार्य मुझसे कहते हैं, उसका तात्पर्य मुझे बताते हैं, तो मेरी चेतना पर उसका प्रभाव पड़ता है।

हम अहंकार की बात कर रहे थे। अंहकार को कम करने के लिये अनन्त उपाय हैं। यदि जीवन में हम शान्ति चाहते हैं, तो अहंकार छोड़ने का अभ्यास हम अपने घर से ही शुरू करें। हम कैसे सोचते हैं – 'मैं इस घर का मालिक हूँ, मुझे पूछे बिना तुमने उसे गाड़ी क्यों दे दी? भले ही अभी गाड़ी का कोई काम नहीं है, किन्तु पत्नी ने मुझे क्यों नहीं बताया? गाड़ी पर मेरा अधिकार है।' इससे आपका अहंकार और दृढ़ होगा और आपकी अशान्ति बढ़ेगी। किन्तु यदि आप उदार हो जायँ, कि भाई गाड़ी पर जितना मेरा अधिकार है, उतना ही पत्नी का भी है, तो आपका अहंकार कम होगा और आपके जीवन में शान्ति बनी रहेगी। भगवान गीता में कहते हैं –

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणैः कर्मविभागयोः
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।। ३-२८

– हे अर्जुन ! गुण-कर्मविभाग के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानयोगी उनमें आसक्त नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, व्यवहार कर रहे हैं।

अर्जुन, जो व्यक्ति गुण कर्म-विभाग को जानता है, जिसने तत्त्व को समझ लिया है, वह व्यक्ति प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुण कार्य कर रहे हैं, ऐसा सोचकर उनमें आसक्त नहीं होता है। जिस व्यक्ति ने यह समझ लिया है कि ये गुण-कर्म विभाग माया के गुण हैं, वह आसक्त नहीं होता। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, इनके सारे गुण और इनकी परस्पर चेष्टाओं के नाम कर्म विभाग है। तत्त्ववित् क्या है – किसी भी वस्तु के मूल को, जहाँ से उस वस्तु की उत्पत्ति है, उसे जाननेवाला तत्त्ववित् है। इसे उदाहरण से समझें। अग्नि का तत्त्व दाहिकाशक्ति है। यदि अग्नि में यह शक्ति नहीं रहे, तो अग्नि समाप्त हो जायेगी। सिनेमा के परदे में आप अग्नि देखते हैं, किन्तु परदा नहीं जलता, आपका हाथ नहीं जलता, वह केवल दृष्टि-भ्रम है, धोखा है। आग जल रही है, ऐसा दिख रहा है, पर वास्तव में उसमें अग्नि का तत्त्व ताप नहीं है।

वित् – जो तत्त्व को जानता है। इस प्रकार वस्तु को मूलत: सर्वांगपूर्ण जाननेवाला तत्त्ववित् कहलाता है।

अहंकारी अतत्त्ववित् होता है। अहंकारी तत्त्व को नहीं जानता है। अहंकारी यह सोचता है कि मेरा शरीर ही आत्मा है, मेरा सर्वस्व है। आगे कुछ नहीं रहेगा, पीछे भी कुछ नहीं था – ऐसा विचार करने वाला व्यक्ति मूढ़ है। तत्त्ववित् कौन है? जो तत्त्व पर विचार करता है। आज – हम आप तत्त्ववित् नहीं है, किन्तु एक दिन वहाँ पहुँच सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। भगवान शंकराचार्य के अनुसार जो व्यक्ति अपने को आत्मा अनुभव कर लेता है, वही व्यक्ति तत्त्ववित् होता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि शरीर जाने दुख जाने मन तुमी आनन्दे थाको – हे मेरे मन, शरीर और दुख अपनी बात जानें, तुम तो आनन्द में रहो। भगवान का नाम लेते रहो, माँ काली में डूबे रहो। इतनी पीड़ा में भी श्रीरामकृष्ण माँ काली के चिन्तन में डूबे रहते थे। उनके सभी पार्षदों में यह शक्ति थी। कुछ अन्य संतो में भी अपने शरीर से मन को हटा लेने की शक्ति थी।

श्रीरामकृष्णवचनामृत में श्रीरामकृष्ण ने बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। एक प्याज ले लो और उसे छिलते जाओ, तो अन्त में उस प्याज में कुछ नहीं बचता है। उसी प्रकार, जो 'मैं-मैं' कह रहा हूँ, 'मैं' से यदि हम सबको हटा दें कि – मैं साधू हूँ, पिता हूँ, बहन हूँ, पत्नी हूँ, भाभी हूँ, धनी-गरीब हूँ, आदि जो कुछ भी मैं हूँ, उन सबको हटा दें, तो देखेंगे कि अन्त में कुछ नहीं बचेगा। यह केवल कल्पना है। कल्पना को जान लेना तत्त्वज्ञान नहीं है। तत्त्ववित् वह है, जो मैं को हटाकर उसके बदले, मैं आत्मा हूँ, ऐसा जान लेता है, मैं चैतन्य हूँ ऐसा अनुभव कर लेता है, जिस चैतन्य से इस जगत की सृष्टि हुई है, वह मेरा स्वरूप है, ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति किसी वस्तु में आसक्त नहीं होता।

आसक्ति से जो दु:ख होता है उससे हम सब परिचित ही हैं। यदि मुझे पहनने के लिए ये कपड़े आश्रम से नहीं दिये जायें, तो मैं सारा आश्रम सिर पर उठा लूँगा। एक फटी चादर के लिये भी हमारे मन में आसक्ति रहती है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज वृंदावन में तपस्या कर रहे थे। ठंड के दिन थे। वे अपने चिन्तन में मग्न थे। एक कोई सेठ आया और उसने देखा कि इतनी ठंड में ये बाबाजी पतली चादर ओढ़े बैठे हैं, उसने उनके पास एक कंबल रख दिया और चला गया। महाराज अपने ध्यान-चिन्तन में निमग्न थे। थोड़ी देर बाद दूसरा कोई व्यक्ति आया और कंबल लेकर चला गया। तुरीयानन्द जी महाराज भी वहाँ थे। वे ये सब देख रहे थे। उन्होंने महाराज से पूछा – क्या बात है, आपने कुछ प्रतिरोध नहीं किया। तब ब्रह्मानन्द जी कहते हैं कि एक ने आकर कंबल रख दिया और दूसरा उसे ले गया। इसमें मेरा क्या लेना-देना है? इसमें मैं कहाँ जुड़ा है? अगर दूसरा कोई होता, तो कहता, अरे, मेरा कंबल उठाकर लेकर चला गया और वह उसके पीछे दौड़ पड़ता। यह तत्त्ववित् का व्यवहार है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी के मन में अहंकार नहीं था।

यह मैं-मेरा कहाँ से आता है? अहंकार से आता है। अहंकार से ही सारी वासनाएँ, कामनाएँ काम, कोध, लोभ आदि सब उत्पन्न होती हैं। अहंकार का त्याग ही हमें आसक्ति से बचाता है। आसक्ति और अहंकार परस्पर आश्रित हैं।

किन्तु ये सब उन्हीं लोगों के लिये है। जो उच्च जीवन की आकांक्षा रखते हैं। भारतवर्ष में ही गीता स्वीकृत है। विदेश में है, किन्तु उसकी मात्रा कम है। ये सारी चर्चा उच्च जीवन बीताने वालों के लिये है। यदि हम सोचे कि हम कहीं भी आसक्त नहीं हैं, जब चाहें, तब छोड़ सकते हैं, तो हमें आत्मनिरीक्षण करके देखना होगा। आसक्ति छूटना इतना सहज नहीं है। कितने लोग आकर मुझसे कहते हैं, महाराज अब कुछ साल बाद अवकाश प्राप्त कर लूँगा, सेवानिवृत्त हो जाऊँगा, तब आपके पास ही आकर आश्रम में सेवा करूँगा। जो काम आप बताएँगे, वह काम मैं करूँगा। हमारे आश्रम में भी स्कूल है। एक सज्जन अच्छे थे, रिटायर हो गये। मंदिर में प्रणाम करके मेरे पास आये। मुझसे कुछ सेवा-कार्य माँगा। हमने उनसे कहा – हमारे मिशन के एक स्कूल को संभाल लेना। हाँ महाराज आऊँगा, ऐसा कहकर चले गये। वे फिर दुबारा नहीं दिखे। वे जिस शहर में रहते थे, उसी शहर में मेरा व्याख्यान था, मैं गया। किसी भक्त से पूछा कि भाई, अमुक सज्जन कहाँ हैं, वे क्या करते हैं? किसी ने कहा, वे तो घर में ही रहते हैं। क्या करते हैं? कुछ दूसरी नौकरी तो नहीं करते। इस प्रायवेट आश्रम में कभी आते हैं, लेकिन कहते हैं कि समय नहीं मिलता। मैं प्रवचन के लिए आया हूँ, उतना उनको बताओ। वे समाचार पाकर मिलने आये। मैंने पूछा, कैसे हो? क्या करते हो? वे कहने लगे महाराज, मैं तो आनेवाला था, किन्तु मेरे बच्चे का विवाह हो गया, अब उसकी पत्नी गर्भवती है, उसके मायके में इतनी सुविधा नहीं है, तो उसका सब हमें देखना पड़ता है। बस उसको बच्चा हो जाय, तो मैं जरूर आश्रम में सेवा देने आऊँगा। यह बात उनके समझ में नहीं आयी कि यह आसक्ति के कारण है। हमको ऐसा लगता है कि हम कहीं नहीं जुड़े हैं, हम आसक्ति से मुक्त हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। हम इस भ्रम में रहते हैं कि हम आसक्त नहीं हैं।

मैंने महापुरुषों से सुना है कि साधक को आत्मनिरीक्षण का अभ्यास करना चाहिये। यह इतना सूक्ष्म बंधन है कि यदि हम इसे नहीं समझ सके, तो दूसरा कोई भी हमें नहीं बता सकता कि हमारे मन में आसक्ति है कि नहीं।

❖ (क्रमश:) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (३५)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

* * *

इदानीं सर्ववल्ली-अर्थ-उपसंहारार्थम् आह –

अब सभी वल्लियों के तात्पर्य का उपसंहार करने के निमित्त उपनिषद् कहती है –

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं
तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।। २/३/१७

अन्वयार्थ – अंगुष्ठमात्रः अंगूठे के परिमाण वाली **अन्तरात्मा** अन्तरात्मा **पुरुषः** परमात्मा **सदा** सर्वदा **जनानाम्** मनुष्यों के **हृदये** हृदय में **सत्-निविष्टः** प्रविष्ट होकर रहती है; **मुञ्जात्** मुंज घास से **ईषीकाम् इव** सींक के समान **तम्** उसको **स्वात्** अपने **शरीरात्** (त्रिविध) शरीर से **धैर्येण** धैर्यपूर्वक **प्रवृहेत्** अलग करना चाहिये। **तम्** उस (पृथक की हुई आत्मा) को **शुक्रम्** शुद्ध **अमृतम्** अमृत ब्रह्म (के रूप में) **विद्यात्** जानना चाहिये। **तम् विद्यात् शुक्रम् अमृतम् इति** (पुनरुक्ति उपदेश की समाप्ति का सूचक है)।

भावार्थ – अंगूठे के परिमाण वाला अन्तरात्मा रूपी परमात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होकर रहता है; मुंज घास से सींक के समान उसको अपने (त्रिविध) शरीर से धैर्यपूर्वक अलग करना चाहिये। उस (पृथक की हुई आत्मा) को शुद्ध अमृत ब्रह्म (के रूप में) जानना चाहिये। (पुनरुक्ति उपदेश की समाप्ति का सूचक है)।

भाष्यम् – अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः। तं स्वात् आत्मीयात् शरीरात् प्रवृहेत् उद्यच्छेत् निष्कर्षेत् पृथक् कुर्यात् इत्यर्थः। किम् इव इति उच्यते मुञ्जात् इव ईषीकाम् अन्तस्थां धैर्येण अप्रमादेन।

भाष्य-अनुवाद – अंगूठे के परिमाण का पुरुष, (समस्त) जीवों के हृदय में सर्वदा अन्तरात्मा के रूप में स्थित है, जैसी कि पहले (२/१/१२-१३) व्याख्या की जा चुकी है। उसे अपने (त्रिविध) शरीर से (विवेक द्वारा) निकालना चाहिये, खींचना चाहिये, पृथक् करना चाहिये। किस प्रकार अलग करना चाहिये, यही बताते हैं – धैर्य अर्थात् अप्रमादपूर्वक जैसे मुंज के घास से उसके सींक को निकालते हैं, वैसे ही।

तं शरीरात् निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्यात् विजानीयात् शुक्रम् अमृतं यथा उक्तं ब्रह्म इति। द्विर्वचनम् उपनिषत्-परिसमाप्ति-अर्थम् इति शब्दः च ।। २/३/१७ (११८)

शरीर से निकला हुआ जो चैतन्य मात्र (आत्मा) है, उसी को शुद्ध अमृत ब्रह्म समझना चाहिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। (उसी को शुद्ध अमृत ब्रह्म समझना चाहिये) इस वाक्यांश को दुहराना उपनिषद् के उपसंहार का द्योतक है।

* * *

विद्या-स्तुति-अर्थः अयम् आख्यायिका-अर्थ-उपसंहारः अधुना उच्यते –

अब ब्रह्मविद्या की स्तुति के निमित्त इस आख्यायिका के अर्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं –

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युर-
न्येऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।। २/३/१८

अन्वयार्थ – अथ इसके बाद **मृत्युप्रोक्ताम्** यमराज द्वारा कथित **एताम्** यह **विद्याम्** ब्रह्मविद्या **च** और **कृत्स्नम्** सम्पूर्ण **योगविधिम्** योगविधि को **लब्ध्वा** प्राप्त करके **नचिकेतः** नचिकेता **विरजः** (धर्म-अधर्म से) मुक्त (एवं) **विमृत्युः** कामनाओं तथा अविद्या से रहित (होकर) **ब्रह्म-प्राप्तः अभूत्** मुक्त हो गये। **अन्यः अपि यः** दूसरा भी कोई **एवम्-विध** इसी प्रकार जानता है, (वह भी इसी फल को प्राप्त करता है)।

भावार्थ – इसके बाद यमराज द्वारा कथित यह ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधि को प्राप्त करके नचिकेता धर्म तथा अधर्म से मुक्त (और) कामनाओं तथा अविद्या से रहित (होकर) मुक्त हो गये। दूसरा भी कोई इसी प्रकार जानता है, (वह भी इसी फल को प्राप्त करता है)।

भाष्यम् – मृत्युप्रोक्तां यथोक्ताम् एतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलम् इति एतत्;

नचिकेता वर-प्रदानात् मृत्योः लब्ध्वा प्राप्य इत्यर्थः – किम्? ब्रह्मप्राप्तो अभूत् मुक्तो अभवत् इत्यर्थः। कथम्? विद्याप्राप्त्या विरजो विगत-धर्म-अधर्मो विमृत्युः विगत-काम-अविद्यः च सन् पूर्वम् इत्यर्थः।

भाष्य-अनुवाद – मृत्यु (यमराज) द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और समस्त अंगों तथा फलों सहित योगविधि को नचिकेता ने मृत्यु (यमाचार्य) से वरदान के रूप में प्राप्त करके – उसका क्या हुआ? – ब्रह्म को प्राप्त हो गया अर्थात् मुक्त हो गया। – कैसे? – पहले विद्याप्राप्ति के फलस्वरूप धर्म-अधर्म-रूपी रजोगुण से रहित हो गया और कामना तथा अविद्या-रूपी मृत्यु के अतीत हो गया। इसका यही अर्थ है।

न केवलं नचिकेता एव अन्यः अपि नचिकेतोवत् आत्म -विद् अध्यात्मम् एव निरुपचरितं प्रत्यक्-स्वरूपं प्राप्य तत्त्वम् एव इति अभिप्रायः, न अन्यत् रूपम् अप्रत्यक्-रूपम्। तत् एवम् अध्यात्मम् एवम् उक्त-प्रकारेण वेद विजानाति इति एवंवित् सः अपि विरजः सन् ब्रह्म-प्राप्त्या विमृत्युः भवति इति वाक्येशः।। २/३/१८ (११९)

केवल नचिकेता ही नहीं, नचिकेता जैसा जो भी अन्य कोई आत्मवेत्ता है, वह भी अध्यात्म अर्थात् देहादि के अधिष्ठान-रूप, उसके अन्तरतम उपचार-रहित (पूर्ण) परम सत्ता को प्राप्त करके (मुक्त हो जाता है); परन्तु अन्तरात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी विद्या को प्राप्त करके नहीं। अत: जो कोई भी अध्यात्म अर्थात् देह में रहनेवाली अन्तरात्मा को उपरोक्त प्रकार से जानता है, ऐसा ज्ञानी भी विरज (धर्म-अधर्म से रहित) होकर ब्रह्म-प्राप्ति के द्वारा (कामना-अज्ञान-रूप) मृत्यु से मुक्त हो जाता है – वाक्य में इतना जोड़ लेना होगा।

* * *

शिष्य-आचार्ययोः प्रमादकृता न्यायेन विद्याग्रहण-प्रतिपादन-निमित्त-दोष-प्रशमनार्थ-इयं शान्तिः उच्यते –

विद्या के ग्रहण तथा प्रतिपादन के दौरान शिष्य तथा आचार्य द्वारा प्रमाद के कारण हुई भूलों के प्रशमन हेतु यह शान्ति-मंत्र कहा जा रहा है –

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।। २/३/१९

अन्वयार्थ – **ॐ** ब्रह्म (परमात्मा) **नौ** हम (गुरु-शिष्य) दोनों की, **सह** एक साथ **अवतु** रक्षा करें; **नौ** हम दोनों को **सह** एक साथ **भुनक्तु** ब्रह्मविद्या-फल का भोग कराएँ; (हम दोनों) **सह** एक साथ **वीर्यम्** (ब्रह्मविद्या के लिये) पराक्रम **करवावहै** प्राप्त करें; **नौ** हम दोनों की **अधीतम्** प्राप्त की हुई विद्या **तेजस्वि** अर्थ की प्रकाशक **अस्तु** हो; **मा विद्विषावहै** हम एक दूसरे के प्रति विद्वेष का भाव न रखें। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः** त्रिविध विघ्नों[1] की शान्ति हो।

भावार्थ – परमात्मा हम आचार्य तथा शिष्य – दोनों की समान रूप से रक्षा करें; हम दोनों को समान रूप से ब्रह्मविद्या-रूपी फल प्रदान करें; हम दोनों समान रूप से विद्या के लिये शक्ति-सामर्थ्य अर्जित कर सकें; हम दोनों द्वारा प्राप्त की हुई विद्या सार्थक हो; हम दोनों आपस में ईर्ष्या-द्वेष न करें। ॐ तीनों प्रकार के विघ्न-बाधाओं की शान्ति हो।

भाष्यम् – सह नौ आवाम् अवतु पालयतु विद्या-स्वरूप-प्रकाशनेन। कः? सः एव परमेश्वरः उपनिषत्-प्रकाशितः। किं च सह नौ भुनक्तु तत्-फल-प्रकाशनेन नौ पालयतु। सह एव आवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्य करवावहै निष्पादयावहै। किं च तेजस्विनौ तेजस्विनोः आवयोः यत् अधीतं तत् सुधीतम् अस्तु। अथवा तेजस्वि नौ आवाभ्यां यत् अधीतं तत् अतीव तेजस्वि वीर्यवत्-अस्तु इत्यर्थः।

भाष्य-अनुवाद – विद्या के स्वरूप को प्रकट करके वह हम दोनों की (साथ-साथ) रक्षा करे। – कौन? – वही परमेश्वर, जो उपनिषदों द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त वह उस (ब्रह्मविद्या) के फल को प्रकट करके हम दोनों की रक्षा करे। हम दोनों साथ-साथ विद्या से उत्पन्न होनेवाले सामर्थ्य को प्राप्त करें। हम दोनों तेजस्वियों के लिये अध्ययन की हुई विद्या सुपठित हो। अथवा हम दोनों द्वारा पढ़ी गयी विद्या तेजस्वी अर्थात् सबल (प्राणवन्त) हो।

मा विद्विषावहै शिष्य-आचार्यौ-अन्योन्यं प्रमाद कृत-अन्याय-अध्ययन-अध्यापन-दोष-निमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः। शान्तिः शान्तिः शान्तिः इति त्रिर्वचनं सर्व-दोष-उपशमनार्थम् इति ओम् इति।। २/३/१९ (१२०)

हम दोनों – शिष्य तथा आचार्य – प्रमाद के फलस्वरूप हुई एक-दूसरे की अध्ययन-अध्यापन की भूलों के कारण आपस में द्वेषभाव न रखे। शान्तिः शान्तिः शान्तिः – यह त्रिवार उच्चारण समस्त दोषों का शमन करने हेतु है।। ॐ ।।

❖ (समाप्त) ❖

१. आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक – तीनों प्रकार के विघ्न

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

प्राचीन-वासना-वेगादसौ संसरतीति चेत् ।
न सदेकत्व-विज्ञानान्मन्दी भवति वासना ।।४४३।।

अन्वय – प्राचीन-वासना-वेगात् असौ संसरति इति चेत्, न, सद्-एकत्व-विज्ञानात् वासना मन्दी भवति ।

अर्थ – यदि कहो कि उस (ब्रह्मज्ञ) में पुराने संस्कारों के वेग से अब भी सांसारिकता देखने में आती है, तो हम कहेंगे कि ऐसा नहीं होगा, (क्योंकि) सत्स्वरूप, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होने पर वासनाएँ (संस्कार) क्षीण हो जाती हैं ।

अत्यन्त-कामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः।।४४४।।

अन्वय – अत्यन्तकामुकस्य अपि वृत्तिः मातरि कुण्ठति, तथा एव पूर्णानन्दे ब्रह्मणि ज्ञाते मनीषिणः ।

अर्थ – अत्यन्त कामुक व्यक्ति की भी भोग-वासना माता के समीप जाने पर कुंठित हो जाती है, वैसे ही पूर्ण आनन्द-स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर मनीषी के चित्त में कोई भी विषय-कामना उठ नहीं सकती ।

प्रारब्ध पर विचार –

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते ।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ।।४४५।।

अन्वय – निदिध्यासन-शीलस्य बाह्य-प्रत्ययः ईक्ष्यते । फल-दर्शनात् एतस्य प्रारब्धं श्रुतिः ब्रवीति ।

अर्थ – निदिध्यासन-शील अर्थात् ध्यान-परायण व्यक्ति में बाह्य विषयों का बोध देखने में आता है; इसे देखकर ही श्रुति (छा. ६/१४/२) इसे प्रारब्ध कर्मों का फल बताती है ।

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ।।४४६

अन्वय – यावत् सुखादि-अनुभवः तावत् प्रारब्धं इष्यते । फलोदयः क्रियापूर्वः निष्क्रियः कुत्रचित् हि न (दृश्यते)।

अर्थ – जब तक सुख-दुख आदि का अनुभव होता है, तब तक ऐसा मानते हैं कि प्रारब्ध कर्म फल दे रहा है । फल का उदय किसी पूर्व क्रिया का द्योतक है, क्रिया के अभाव में कहीं भी फल का उदय दिखाई नहीं देता ।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्-कल्पकोटिशतार्जितम् ।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ।।४४७।।

अन्वय – प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत् (तद्वत्) कल्पकोटिशत-अर्जितम् सञ्चितं, 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानात् विलयं याति ।

अर्थ – जैसे स्वप्न में किये हुए सारे (भले-बुरे) कर्म जागते ही लुप्त हो जाते हैं, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) का ज्ञान होने पर सौ करोड़ कल्पों में संचित हुए कर्म भी विलीन हो जाते हैं ।

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम् ।
सुप्तोत्थितस्य किन्तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा ।।४४८

अन्वय – स्वप्नवेलायां यत् पुण्यं वा उल्बणम् पापं कृतं, तत् सुप्त-उत्थितस्य स्वर्गाय वा नरकाय स्यात् किम्?

अर्थ – स्वप्न देखते समय यदि कोई पुण्य कर्म या जघन्य पाप हो जाता है, तो निद्रा से जागने पर क्या व्यक्ति को स्वर्ग या नरक ले जाया जायगा?

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यति च यत्किञ्चित्कदाचिद्भाविकर्मभिः।।४४९

अन्वय – नभं यथा स्वं असङ्गं उदासीनं परिज्ञाय भावि-कर्मभिः यत् किञ्चित् कदाचित् च श्लिष्यति न ।

अर्थ – जो आत्मा आकाशवत् असंग तथा उदासीन है; उसकी ('वही मैं हूँ' ऐसी) अनुभूति कर लेने पर ज्ञानी भावी कर्मफलों से जरा भी और कभी भी लिप्त नहीं होता ।

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ।।४५०।।

अन्वय – (यथा) नभः घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते न तथा आत्मा उपाधियोगेन तद्धर्मैः लिप्यते न एव ।

अर्थ – जैसे आकाश – घट तथा उसमें स्थित सुरा के गन्ध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा (स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म अन्त:करण की) उपाधियों से सम्बद्ध होकर भी उनके गुणों से लिप्त नहीं होता ।

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्मज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ।।४५१।।

अन्वय – लक्ष्यं उद्दिश्य उत्सृष्ट-बाणवत् ज्ञानोदयात् पुरा आरब्धं कर्म स्वफलं अदत्वा ज्ञानात् नश्यति न ।

अर्थ – जैसे लक्ष्य की ओर छोड़ा जा चुका बाण लक्ष्यभेद करता ही है (उसे बीच में रोका नहीं जा सकता), वैसे ही आत्मज्ञान का उदय होने के पूर्व (इस जन्म में) आरम्भ हो चुके (प्रारब्ध) कर्म फल दिये बिना नष्ट नहीं होते ।

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ।।४५२।।

अन्वय – व्याघ्र-बुद्ध्या विनिर्मुक्तः बाणः पश्चात् तु गोमतौ तिष्ठति न, निर्भरम् वेगेन लक्ष्यं छिनत्ति एव ।

अर्थ – बाघ समझकर छोड़ा गया बाण, बाद में 'वह गाय है' – जानने पर भी उसे रोका नहीं जा सकता । वह पूरी शक्ति के साथ लक्ष्यभेद करता ही है । ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेकानन्दमय हुआ पूरा शहर, रायपुर में २५०० बच्चे सजे विवेकानन्द – विश्व रिकार्ड में शामिल

स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में ७ जुलाई, २०१३ को विवेकानन्द आश्रम, रायपुर से सायं ४ बजे स्वामी विवेकानन्द जी की विलक्षण और ऐतिहासिक झाँकी निकाली गयी, जिसे विश्व रिकार्ड में शामिल किया गया है। इस झाँकी में २५०० (ढाई हजार) बालक स्वामी विवेकानन्द और ५०० (पाँच सौ) बालिकायें भगिनी निवेदिता की वेशभूषा में सजे थे। इसमें विभिन्न स्कूल-कॉलेज के छात्र -छात्राओं ने भाग लिया था। झाँकी का प्रारम्भ विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने हरी झंडी दिखाकर किया था। यह झाँकी विवेकानन्द आश्रम, रायपुर से प्रारम्भ होकर तात्यापारा, शारदा चौक, जयस्तम्भ चौक, मालवीय रोड, सदर रोड से होते हुये बूढ़ापारा में विवेकानन्द सरोवर के समीप स्वर्गीय बलवीर सिंह जुनेजा इंडोर स्टेडियम में पहुँची। मार्ग में बच्चे बड़े जोश से 'भारत माता की जय', 'स्वामी विवेकानन्द अमर रहें', नारे लगा रहे थे और देशभक्ति के गीत गाते हुये चल रहे थे। इस कार्यक्रम में २ माह से लेकर ५९ वर्ष तक के लोगों ने भाग लिया। स्टेडियम में आयोजित सभा के मुख्य अतिथि थे छत्तीसगढ़ सरकार में स्कूल शिक्षामंत्री बृजमोहन अग्रवाल। इस अद्भुत झाँकी का आयोजन महावीर इंटरनेशनल फाउंडेशन, रायपुर के लोकेश कावड़िया और संचालन मुकेश शाह ने किया था। कार्यक्रम में महावीर इंटरनेशनल फाउंडेशन के अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष वीर शान्तिलाल कवाड़, गोल्डेन बुक ऑफ रिकार्ड के प्रतिनिधि मनीष बिश्नोई आदि अनेकों गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

रामकृष्ण मिशन द्वारा उत्तराखंड में राहत-कार्य

उत्तराखंड के केदारनाथ में ग्लैशियर विस्फोट और सहसा ३० फिट ऊँचे जल प्रवाह के आने के कारण मिनटों में कई हजार लोग काल-कवलित हो गये। यह सिलसिला १५ जून से १७ जून तक चलता रहा। केदारनाथ, गौरीकुंड, रामबाड़ा पूर्णत: जनशून्य हो गया और बच गया केवल रेत, मिट्टी और मलवा। इसमें विभिन्न राज्यों से आये हजारों यात्रियों और स्थानीय लोगों की मृत्यु हो गयी। बड़ी कठिनाई से सैनिकों के द्वारा फँसे हुये लोगों की जान बचायी गयी। उसके बाद से शुरू हुआ अनेकों स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा राहत-कार्य। केदारनाथ के पुजारी, वहाँ के व्यापारी और मजदूर खच्चरवालों और अन्य स्थानों पर कार्यरत लोगों की अकाल मृत्यु हो जाने से उनके परिवार अनाथ हो गये। उनकी जीविका का कोई साधन नहीं बचा। पढ़नेवाले छात्र-छात्रायें धन और सुविधा के अभाव में हताश हो गये। इस स्थिति में भारत सरकार के निवेदन पर रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ ने अपने दो केन्द्रों रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल (हरिद्वार) और रामकृष्ण मिशन आश्रम, किशनपुर, देहरादून के माध्यम से रिलीफ कार्य प्रारम्भ किया। रामकृष्ण मिशन, हरिद्वार ने २१ जून से ४ अगस्त तक अगस्तमुनि, विजय नगर, सारगढ़, सिली, रामपुर, चन्द्रपुर, बासुकेदार, त्रियुगीनारायण, जवाहरनगर, रुद्रप्रयाग, गौरीकुंड, गुप्तकाशी के आसपास कालीमठ, कुंजेठी, व्यूखी, जगीभगवान, जलतला, जलमला, गौरीग्राम, नागजगाई, लमगोंडी, कोटमा, नाला, फाटा आदि ११४ गाँवों में राहत-कार्य किया, जिससे ८२४० परिवार लाभान्वित हुये। इसमें हर परिवार को चावल, दाल, आटा, आलू, चिउड़ा, दलिया, दूध, मोमबती, बिस्कुट, सोयाबीन, चीनी, चाय, तेल, नमक, पेय जल, बेडसीट, कंबल, धोती, टी-शर्ट, खाना बनाने के बर्तन, थाली, ग्लास, कटोरी, चम्मच, टूथपेस्ट, प्रेशर कूकर, टार्च, सोलर लालटेन, प्लास्टिक सीट आदि अन्य बहुत सी चीजें बाँटी गयीं।

इसके साथ ही आश्रम द्वारा मेडिकल सेवायें भी दी जा रही हैं। इसे डॉ. ब्रह्मचारी तुलसीदास जी अभी भी संचालित कर रहे हैं। अब तक २३०७ रोगियों का इलाज किया जा चुका है। इस रिलीफ अभियान को स्वामी नित्यशुद्धानन्द जी के निर्देशन में बड़े ही निष्ठापूर्वक रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों – स्वामी मुकुन्दानन्द, दिव्यस्वरूपानन्द, आत्मलोकानन्द, प्रबुद्धात्मानन्द, यादवानन्द, ज्ञाननिष्ठानन्द, ज्योतिरानन्द, ईशव्रतानन्द, पुरुषेशानन्द, प्रपत्त्यानन्द, रामप्रियानन्द, शिवेन्द्रानन्द, देवतानन्द, महाकालानन्द और अन्य संतों स्वामी भागवतानन्द, नरोत्तमानन्द, ब्रह्मचारी प्रशान्त, ब्रह्मचारी तुलसीदास और स्वयंसेवक अजय, आकांशु, शुभम्, पूरण, भास्कर सेतुपति आदि ने मिलकर सफल बनाया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, देहरादून ने उत्तराखंड के जोशीमठ में लगभग हजारों परिवारों में उपरोक्त सामग्रियों का वितरण किया। जिसे स्वामी निर्विकल्पानन्द जी के निर्देशन में उसी आश्रम के स्वामी ध्यानस्थानन्द जी ने अपने अन्य सहयोगी सन्तों एवं स्वयंसेवकों के साथ सम्पन्न किया। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की आत्मकथा

(स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर एक फिल्म)

अवधि : १२५ मिनट, डी.वी.डी फार्मेट : पाल

स्वामी विवेकानन्द के अपने ही शब्दों में उनके अभूतपूर्व जीवन का चित्रण

'स्वामी विवेकानन्द की आत्मकथा' उनके स्वयं के जीवन विषयक उनकी उक्तियों पर आधारित एक फीचर फिल्म है। इसमें इन महान् द्रष्टा के अपने शब्दों में उनके जीवन तथा समकालीन परिस्थितियों को सजीव बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इसका प्रारम्भ होता है – युवा विवेकानन्द हिन्द महासागर की उत्ताल तरंगों को तैरकर पार करते हैं और समुद्रगर्भ में स्थित शिला पर चढ़कर ध्यान करने बैठ जाते हैं। उस एकान्त चिन्तन में उनके समक्ष अपने जीवन का उद्देश्य प्रगट हो उठता है – *भारतीय जनता की आध्यात्मिक चेतना को पुन: जगाना और व्यावहारिक वेदान्त के सिद्धान्तों के आधार पर देश की दुर्दशाग्रस्त पिछड़ी जनता के उत्थान हेतु अपनी योजना प्रस्तुत करना।* इस प्रकार भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त रोमांचकारी यात्रा आरम्भ होती है।

यहाँ स्वामीजी अपने बचपन, युवावस्था, परिवार की निर्धनता, अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट, अपने गुरुदेव के विचारों का निरन्तर विरोध, उनके गुरुदेव की महासमाधि, रामकृष्ण मठ की स्थापना, परिव्राजक संन्यासी के रूप में उनके भारत-भ्रमण और अन्तत: उनकी अमेरिका-यात्रा आदि का चित्रण किया गया है।

यह '***Vivekananda by Vivekananda***' नामक अंग्रेजी फिल्म का हिन्दी रूपान्तरण है, जो पिछले वर्ष जनवरी में रिलीज हुआ था और स्वामीजी के भक्तों, अनुरागियों और आम जनता ने बड़े हर्षपूर्वक स्वागत किया था।

यह डी.वी.डी. (पाल) चेन्नै रामकृष्ण मठ के आनलाइन स्टोर से निम्नलिखित लिंक पर उपलब्ध है –

http://www.chennaimath.org/istore/product/swami-vivekananda-ki-atmakatha-hindi-movie-dvd/.

इसका डिजिटल डाउनलोड (एम.पी.४) निम्नलिखित लिंक के आनलाइन स्टोर से भी डाउनलोड किया जा सकता है –

http://www.chennaimath.org/istore/product/swami-vivekananda-ki-atmakatha-hindi-movie-download/

अंग्रेजी तथा तमिल डी.वी.डी. निम्नलिखित लिंक पर उपलब्ध है –

http://www.chennaimath.org/istore/category/media-disc/dvds/video-dvds/
http://www.chennaimath.org/istore/category/edownloads/video-downloads/

परिकल्पना, पटकथा, निर्देशन : कार्तिक सारागुर

प्रति डी.वी.डी का मूल्य : रु.१५०/- + पोस्टेज रु.१५०/-

अधिक जानकारी के लिये सम्पर्क करें – श्रीरामकृष्ण मठ, मयलापुर, चेन्नै ६०० ००४ (तमिलनाडु)

Website: www.chennaimath.org Email:mail@chennaimath.org